श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता प्रचार समिति

सभापति—श्रीमद्भभक्तिवेदान्त सज्जन महाराज
कोषाध्यक्ष—पार्थ ब्रह्मचारी
शीतलापाड़ा, वर्धमान रोड, शिलिगुड़ी (पश्चिम बंगाल)
फोन—8250027268, 9832475909, 8509109409

प्रकाशक—
श्रीमद्भक्तिवेदान्त सज्जन महाराज
श्रीमद्भक्तिनिलय जनार्दन गोस्वामी महाराज

कोषाध्यक्ष —
पार्थ ब्रह्मचारी, अनुपम दास, लक्ष्मण बंसल, राजेन शर्मा

द्वितीय संस्करण
अक्षय तृतीया—20 अप्रैल 2026

–:: ग्रन्थ प्राप्ति स्थान ::–
श्रीमद्भक्तिनिलय जनार्दन गोस्वामी महाराज—नरोत्तम गौड़ीय मठ,
देशबंधुपारा, सिलीगुड़ी

राजेन शर्मा
श्री भारद्वाज चाणक्यालय, बाबूबासा, देवीडांगा,

चंपासरी, सिलीगुडी, पोस्ट ऑफिसः प्रधाननगर
थानाः प्रधाननगर
पिन कोडः 734403
मोबाईल नंबरः 9832033394

सुरज दास, श्री गोवर्धन,
दानघाटी, वृंदावन, मथुरा
मोबाईल नंबरः 9528856296

लक्ष्मण बंसल, नौकाघाट,
सिलीगुड़ी, मोबाईल नंबरः 993220000

मृत्युंजय पुरकाईत, नारायनपुर,
२४ परगना, मोबाईल नंबर 9883037597

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

निवेदन

सबसे पहले, मैं हरिगुरु वैष्णव के चरणों में अपना प्रणाम करता हूँ। हमारी गीता प्रचार समिति की ओर से, आज के समाज में, हिंदू अपना धर्म बदल रहे हैं और उनमें नास्तिक भावनाएँ बहुत ज़्यादा हैं।

सबसे पहले मैं हरि–गुरु–वैष्णव के चरणों में प्रणाम करता हूँ। हमारी गीता प्रचार समिति की ओर से निवेदन है कि आज के समाज में अनेक हिंदू अपना धर्म त्याग रहे हैं और उनमें नास्तिक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक बढ़ रही हैं।

ऐसे में, हम, सिलीगुड़ी के अलग–अलग हिंदू समुदायों या हिंदू संगठनों ने मिलकर इस गीता का प्रचार करने का फ़ैसला किया है। ताकि लोग अपना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में न जाएँ। क्योंकि इस गीता शास्त्र में कहा गया है कि अपने धर्म में मरना बेहतर हैः दूसरा धर्म ज़्यादा खतरनाक है।

ऐसे समय में हम, सिलीगुड़ी के विभिन्न हिंदू समुदायों और संगठनों ने मिलकर गीता प्रचार का संकल्प लिया है। इसका उद्देश्य यह है कि लोग अपना धर्म छोड़कर अन्य धर्मों की ओर न जाएँ। क्योंकि गीता शास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि अपने धर्म में मृत्यु भी कल्याणकारी है, जबकि परधर्म अत्यंत भयावह और विनाशकारी होता है।

भले ही हमें अपने धर्म का पालन करते हुए सैकड़ों मुश्किलों और खतरों का सामना करना पड़े, हम कभी भी दूसरे धर्म या दूसरे धर्म को नहीं अपनाएँगे। अपने धर्म का पालन करते हुए मरना बेहतर है।

भले ही हमें अपने धर्म का पालन करते हुए

सैकड़ों कठिनाइयों और खतरों का सामना करना पड़े, हम कभी भी दूसरे धर्म को नहीं अपनाएँगे। अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है।

यह श्रीमद्‌भगवद्‌गीता श्रीमद्बलदेव विद्या भूषण प्रभु की 'गीता भूषण' अनुवाद और श्रील भक्ति–विनोद ठाकुर द्वारा रचित और बीच के गुरुपद गुरुपाद पद्म श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज सरल हिन्दी अनुवाद जो उन्होंने हमारे लिए और जीवित प्राणियों के लिए बनाया है।

यह श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभु के 'गीता–भूषण' अनुवाद तथा श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित ग्रंथ पर आधारित है। इसके साथ ही गुरुपादपद्म श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज का सरल हिन्दी अनुवाद भी सम्मिलित है, जिसे उन्होंने हमारे और समस्त जीवों के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया है।

गीता प्रचार समिति

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः
सैन्यदर्शनः

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥1॥

1। धृतराष्ट्र ने पूछा, हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥2॥

2। संजय ने कहा,—राजा दुर्योधन ने व्यूह बनाकर खड़ी हुई पाण्डवों की सेना और सैन्य–सामन्तों को देखकर आचार्य द्रोण के पास जाकर यह कहा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥3॥

3। हे आचार्य, देखिये—पाण्डु–पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को, जिसे आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने व्यूह के आकार में खड़ा किया हुआ है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥4॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥5॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥6॥

4–6। इस पाण्डव सेना में महाधनुर्द्धारी भीम और अर्जुन के समान बहुत से महान् शूरवीर योद्धा हैं; जैसे सात्यकि, विराटराज और द्रुपद आदि महारथी; धृष्टकेतु, चेकितान, बलवान् काशिराज आदि वीर; पुरजित् कुन्तिभोज और शैव्य आदि राजा; पराक्रमी युधामन्यु, वीर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सब महारथी हैं।

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥7॥

7। हे द्विजश्रेष्ठ, हमारी सेना में भी जो मुख्य सेनानायक हैं, उनको भी समझ लीजिये; आपकी जानकारी के लिए उनके नाम भी बताता हूँ।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥8॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥9॥

8–9। आप स्वयं, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सौमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ आदि रणविजयीगण एवं और भी बहुत वीर पुरुष हैं—जो युद्ध कला में निपुण हैं, कई प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न हैं और मेरे लिए प्राणों का बलिदान करने को तत्पर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥10॥

10। पितामह भीष्म के संरक्षण में हमारी यह सेना अपरिमित है और इसके मुकाबले में भीम के द्वारा परिरक्षित पाण्डवों का सैन्य बल परिमित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥11॥

11। आप सभी लोग सब मोर्चों पर अपने–अपने स्थानों पर डटे रहकर पितामह भीष्म की ही सब प्रकार से रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥12॥

12। इसके बाद कुरुवंश के सबसे वृद्ध तथा प्रतापी पितामह भीष्म ने दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए सिंह के समान गर्जन करते हुए ऊँचे स्वर से शंख बजाया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥13॥

13। तत्पश्चात् शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघ आदि अनेक रणवाद्यों के अचानक एक साथ बज उठने से अति भयंकर ध्वनि गूँज उठी।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥14॥

14। इधर श्वेत वर्ण के घोड़ों वाले उत्तम (‘कपिध्वज’) रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी

अपने अलौकिक शंख को ऊँचे स्वर से बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥15॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥16॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥17॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥18॥

15–18। हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना 'पाञ्चजन्य' नामक शंख, अर्जुन ने अपना 'देवदत्त' नामक शंख तथा भयंकर कार्यों को करने वाले भीमसेन ने अपना 'पौण्ड्र' नामक भारी शंख बजाया। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्त विजय' नामक शंख, नकुल ने 'सुघोष' नामक शंख और सहदेव ने 'मणिपुष्पक' नामक शंख बजाया; इस प्रकार हे राजन्! महान् धनुर्धर काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र एवं सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्यु आदि सभी ने सब ओर से अलग–अलग अपने शंख बजाए।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्॥19॥

19। उस भयंकर ध्वनी से सम्पूर्ण आकाश और पृथ्वी गुञ्जायमान हो उठी जिससे धृतराष्ट्र–पक्ष के लोगों के हृदय विदीर्ण हो गये।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥20॥

20। हे राजन्! इसके बाद 'कपिध्वज' (वानर के चिह्न से अंकित ध्वज वाले) रथ पर बैठे अर्जुन ने धृतराष्ट्र-पक्षीय सेना को युद्ध के लिए तैयार देखकर बाण चलाने के लिए अपना धनुष उठाया और श्रीकृष्ण से कहा —

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥21॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥22॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥23॥

21-23। अर्जुन ने कहा,—हे अच्युत! आप मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये, ताकि युद्ध की इच्छा से यहाँ उपस्थित उन सभी लोगों को मैं अच्छी तरह से देख लूँ जिनके साथ इस रणक्षेत्र में मुझे युद्ध करना है। और देखूँ कि, इस युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले कौन-कौन योद्धा यहाँ इकट्ठे हुए हैं।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥24॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥25॥

24-25। संजय ने कहा,—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! गुडाकेश (जितनिद्र) अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया। भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सामने वे बोले

कि,—हे पार्थ, युद्ध के लिए यहाँ इकट्ठे हुए इन सब कौरवों को देखो।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥26॥

26। इसके बाद अर्जुन ने वहाँ एकत्रित दोनों सेनाओं में उपस्थित अपने पिता के भाईयों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखाओं, श्वसुरों और प्रियजनों को देखा।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥27॥

27। युद्ध भूमि में उपस्थित अपने उन सब बन्धु-बान्धवों को खड़ा देखकर कुन्तीपुत्र अर्जुन का हृदय करुणा से भर गया और दुखी होकर शोक व्यक्त करते हुए उसने कहा।—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥28॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥29॥

28-29। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! युद्ध के लिए खड़े हुए इन सब स्वजनों को यहाँ उपस्थित देखकर मेरा शरीर सुन्न हो रहा है, मेरा मुख सूख रहा है, मेरे शरीर में कंपकपी हो रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं, गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से छूट रहा है और मेरे शरीर में बहुत जलन भी हो रही है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥30॥

30। हे केशव! मैं अब और खड़ा नहीं रह सकता —मेरे मन का भ्रम भी बढ़ रहा है। मुझे इस युद्ध में केवल विपरीत ही लक्षण दिख रहे हैं।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥31॥

31। स्वजनों को युद्ध में मारकर मुझे कुछ भी भलाई नहीं दीखती। इसलिए हे कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य और सुख की भी मुझे इच्छा नहीं है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥32॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥33॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥34॥

32-34। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या प्रयोजन है, भोग-सुख और जीवन से भी क्या लाभ है? क्योंकि, जिन लोगों के लिए राज्य-भोग और सुख चाहिए, वे आचार्य, पितृजन, पुत्र, पौत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, साले तथा सभी सम्बन्धी ही आज यहाँ प्राणों और सम्पत्ति की आशा छोड़कर युद्ध के मैदान में खड़े हैं। हे मधुसूदन! चाहे ये मुझे मार भी डालें, तब भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥35॥

35। हे जनार्द्दन! पृथ्वी के लिए तो क्या तीनों लोकों का राज्य पाने के लिए भी धृतराष्ट्र–पक्ष के लोगों को मारकर हमारा क्या भला होगा?

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥36॥

36। चाहे ये आततायी हैं, फिर भी इन्हें मारकर हमें पाप ही लगेगा। इसीलिए दुर्योधन और उसके मित्रों का मैं वध नहीं कर सकता हूँ। हे माधव! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥37॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥38॥

37–38। भले ही ये लोग लोभ से बुद्धि–भ्रष्ट हो जाने के कारण कुल–नाश से होने वाले अनर्थ और मित्रों के साथ द्रोह जनित पाप को नहीं देख पा रहे हैं, किन्तु हे जनार्द्दन! कुल के नाश से होने वाले अनर्थ को समझते हुए भी हम इस पाप कार्य से दूर क्यों न रहें?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥39॥

39। [देखो,] कुल का नाश होने से सनातन कुल–धर्म बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर बचे हुए कुल में अधर्म पूरी तरह से फैल जाता है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥40॥

40। हे कृष्ण! कुल में अधर्म छा जाने से कुल की स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय (वृष्णि कुल में उत्पन्न), स्त्रियों में दोष पैदा हो जाने पर 'वर्णसंकर' संतानों की उत्पत्ति होती है अर्थात् वर्णों में मिलावट हो जाती है और कुलों की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥41॥

41। वर्णसंकर उत्पन्न होने पर कुल और कुल–नाशक दोनों को ही नरक में जाना पड़ता है। पिण्डदान और तर्पण आदि की क्रिया नष्ट हो जाने के कारण इनके पितर भी पतित हो जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥42॥

42। इस प्रकार कुलनाशकों के इन वर्णसंकर पैदा करने वाले दोषों से सनातन कुल–धर्म और जाति–धर्म सब नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥43॥

43। हे जनार्द्दन! सुना है कि, जिनके कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं उन्हें अनन्त काल तक नरक में वास करना पड़ता है।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥44॥

44। हाय! कितने खेद की बात है कि हम राज्य–

सुख के लोभ में स्वजनों को मारने का भयंकर पाप करने पर उतारू हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥45॥

45। यदि मैं सामना करना छोड़ दूँ और मुझे निहत्था देखकर भी शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मार डालें, तो वह अधिक कल्याणकारक होगा।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥46॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्रयां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सैन्यदर्शनं' नाम प्रथमोऽध्यायः।

46। संजय ने कहा,—इतना कहकर रणभूमि में धनुष-बाण छोड़कर शोकाकुल अर्जुन रथ में बैठ गये।

इति प्रथम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः
सांख्ययोग

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥1॥

1। संजय ने कहा,—इस प्रकार दया से पसीजे और आँसु-भरे व्याकुल नेत्रों वाले शोकमग्न अर्जुन को भगवान् श्रीमधुसूदन ने कहा।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन॥2॥

2। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा,—हे अर्जुन, संकट की इस घड़ी में तुम्हें यह मोह कैसे उत्पन्न हो गया? यह श्रेष्ठ पुरुषों जैसा आचरण नहीं है। यह स्वर्ग से पथभ्रष्ट करने वाला है और बदनामी फैलाने वाला है।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥3॥

3। हे पार्थ, इस प्रकार कायर मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम 'परन्तप' (शत्रुओं को तपाने वाले) हो, हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥4॥

4। अर्जुन ने कहा,—हे मधुसूदन! युद्ध में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के मुकाबले मैं बाणों से कैसे लड़ूंगा, क्योंकि ये दोनों मेरे पूज्य हैं।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥5॥

5। इन आदरणीय गुरुजनों की हत्या करने से इस संसार में भीख माँगकर जीवन यापन करना भी अधिक अच्छा रहेगा। भले ही वे धन के लोभी हो गये हैं, तो भी गुरुजनों को मारकर [नरक की अपेक्षा नहीं,] इस संसार में ही रक्त से सने भोग-वस्तुओं को भोगना पडेगा।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम—
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः॥6॥

6। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि युद्ध में जय और पराजय में से कौनसी अधिक गौरव की बात है ? क्योंकि जिनकी हत्या करके हम जीना नहीं चाहते हैं, वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही [आज] हमारे सामने युद्ध के लिए खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥7॥

7। वास्तव में 'कार्पण्य'-दोष (अर्थात् स्वाभाविक

सामर्थ्य रहते हुए भी असमर्थता की अनुभूति रूपी दोष) के कारण, मेरा चित्त अपने कर्त्तव्य के विषय में भ्रमित हो चुका है। इसलिए मैं आपसे पूछता हूँ—जो निश्चित रूप से कल्याण का उपाय हो, वह मुझे बताईए। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
अवाप्य यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥8॥

8। सारी पृथ्वी का एकछत्र और समृद्ध राज्य पाकर, यहाँ तक कि (स्वर्ग में) देवताओं का स्वामी बनकर भी मुझे वह उपाय समझ में नहीं आता है, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥9॥

9। संजय ने कहा,—हे राजन्, इस प्रकार शत्रुओं को ताप देने वाला अर्जुन अन्त में श्रीकृष्ण को ऐसा कहकर,—'हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा', चुप हो गया।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥10॥

10। हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, इसके बाद भगवान् हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के बीच में शोकमग्न अर्जुन को हँसते-मुसकराते हुए यह वचन कहा।—

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥11॥

11। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, तुम बातें तो पण्डितों जैसी करते हो, लेकिन शोक न करने योग्य विषय के लिए शोक कर रहे हो। पण्डित लोग मृत अथवा जीवित किसी के लिए शोक नहीं करते। (अर्थात् अनित्य जड़ वस्तुओं के लिए शोक करने वाले लोग विद्वान कहलाने योग्य नहीं है।)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥12॥

12। [क्योंकि,] ऐसा नहीं है कि, मैं पहले कभी न था, या तुम नहीं थे या ये सब राजा नहीं थे; और न ऐसा भी है कि भविष्य में हम सब नहीं रहेंगे (अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की तरह ही नित्य-वस्तु है, इसलिए शोक का कोई कारण नहीं है।)

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥13॥

13। देहधारी जीवों की इस शरीर में जैसे क्रमशः बचपन, जवानी और बुढ़ापे की अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही मृत्यु के बाद जीवात्मा को दूसरा शरीर मिलता है। इसीलिए विद्वान लोग इस विषय में मोहित नहीं होते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥14॥

14। [और भी देखो,] हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, शारीरिक इन्द्रियों की वृत्ति ही ऐसी है कि विषयों के संयोग से उन्हें सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख आदि का अनुभव अवश्य ही होगा और ये सब 'आगमापायी' हैं अर्थात् आते-जाते रहते

हैं—अनित्य हैं। इसलिए हे भारत! उन्हें तुम सहन करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥15॥

15। [उन्हें सहन करने का फल सुनो,] हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जिस ज्ञानी पुरुष को ये (सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि) समस्त अनुभूतियाँ विचलित नहीं कर पाती, सुख–दुःख को समान समझने वाला वह धीर व्यक्ति ही 'अमृत' अर्थात् मुक्ति पाने में समर्थ है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥16॥

16। [यहाँ तत्त्वविज्ञान यह है कि] 'सत्' और 'असत्' दो तत्त्व हैं। जो असत् है, वह नित्य नहीं है और जो सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार इन दोनों के ही स्वरूप को तत्त्वदर्शी लोग जान लेते हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति॥17॥

17। [अब सत्–वस्तु का विचार सुनो,] जो सारे शरीर में व्याप्त है, वह है आत्मा, उसे ही तुम अविनाशी समझो। उस अव्यय (नित्य) 'सत्' वस्तु का विनाश कोई नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥18॥

18। [दूसरी ओर] नित्य, अविनाशी (नाशरहित), अपरिमेय (जिसे मापा न जा सके, ऐसी) जो देही जीवात्मा है, उसका शरीर ही मात्र नाशवान् [अतएव 'असत्'] बताया

गया है। इसलिए हे अर्जुन, [इस 'सत्' तथा 'असत्' विज्ञान के आधार पर तुम कर्त्तव्य विचार से] युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥19॥

19। जो व्यक्ति इस आत्मा को वध करने वाला मानता है और जो इस आत्मा को वध हुआ मानता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥20॥

20। [क्योंकि, आत्म-तत्त्व यह है कि,] यह आत्मा न कभी जन्म लेता है और न ही कभी मरता है। इसकी बार-बार उत्पत्ति एवं वृद्धि भी नहीं होती। आत्मा— अजन्मा, नित्य, शाश्वत (हमेशा रहने वाला) और पुरातन (सबसे प्राचीन किन्तु रूपान्तरहीन) है; शरीर के मारे जाने पर भी इसकी मृत्यु नहीं होती।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥21॥

21। अतएव हे पार्थ! जिसने जान लिया है कि यह आत्मा नाशरहित, नित्य (हमेशा रहने वाला), अजन्मा और अव्यय (मृत्युरहित) है, वह किसी को कैसे मरवा सकता है या स्वयं मार सकता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥22॥

22। [पुनः] मनुष्य जैसे फटे-पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्र पहन लेता है, ठीक उसी तरह यह जीवात्मा जीर्ण (पुराने) शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करता है। [अतः इसके लिए इतना दुःखी क्यों हो रहे हो?]

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥23॥

23। और यह आत्मा ऐसी वस्तु है कि, इसे न अस्त्र-शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और न वायु सुखा सकती है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥24॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥25॥

24-25। इसीलिए इस आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, इसे न काटा जा सकता है, न जलाया जा सकता है, न गीला किया जा सकता है और न ही सुखाया जा सकता है, यह नित्य (चिरकाल रहने वाला), सर्वव्यापी (सभी योनियों में भ्रमण करने वाला), स्थिर, अविचलित (अपरिवर्तनशील) और सनातन (सदा रहने वाला) है। यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता), अचिन्त्य (मन का विषय नहीं) और अविकारी (जन्म आदि छः विकारों से रहित) है। अतएव जीवात्मा के सम्बन्ध में ऐसा जानने के बाद तुम्हें शोक नहीं करना

चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥26॥

26। अथवा [दूसरे नास्तिकों के विचार अनुसार भी] यदि तुम इसे सदा जन्म लेने वाला या सदा मरने वाला मानते हो तो भी हे महाबाहो, इस प्रकार शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥27॥

27। [फिर तार्किकों का यह विचार है कि,] जन्म के बाद जीवों की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए व्यक्ति का जन्म भी निश्चित है, इसको टाला नहीं जा सकता। अतः इस विषय में भी शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥28॥

28। [पुनः देह-तत्त्व के विचार से] सारे प्राणी तथा पदार्थ पैदा होने से पहले अव्यक्त रहते हैं, बीच में अर्थात् जन्म के बाद तथा मृत्यु से पहले मात्र प्रकट रहते हैं और फिर मरने या नष्ट होने पर अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसी हालत में हे भारत, शरीर के लिए शोक क्यों?।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥29॥

29। [क्योंकि आत्म–तत्त्व सबको समझ आने वाला नहीं है, इसलिए] कोई इस आत्म–तत्त्व को आश्चर्य से देखता है, कोई इसका आश्चर्य के भाव से वर्णन करता है, कोई मानो आश्चर्य समझकर सुनता है और कोई ऐसा देख–सुनकर भी इसे नहीं जान पाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥30॥

30। [वहाँ संक्षेप में बात यह है कि,] हे भारत! सभी प्राणियों के शरीर में स्थित यह आत्मा नित्य तथा अवध्य (कभी नहीं मारा जा सकता) है; इसलिए किसी भी प्राणी के लिए शोक करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥31॥

31| और फिर वर्णाश्रमगत स्वधर्म के विचार से देखें, तो भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्मोचित युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा कल्याणकारी कर्त्तव्य नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥32॥

32। अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार के समान इस प्रकार के धर्मयुद्ध को भाग्यशाली क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥33॥
अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।

सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥34॥

33–34। और यदि तुम इस धर्मयुद्ध से मुँह मोड़ोगे तो अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप के भागीदार बनोगे। और सब लोग सदा तुम्हारी अपकीर्ति का बखान करेंगे। सम्मानित व्यक्ति के लिए यह बदनामी मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥35॥

35। सब महारथी तुम्हें युद्ध से डरकर भागा हुआ मानेंगे। और आज तक जो लोग तुम्हारा बहुत सम्मान करते आये हैं, वे भी तुम्हें तुच्छ समझेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥36॥

36। दूसरी ओर तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे। कहो तो इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥37॥

37। बल्कि युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा, जीत गये तो पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए हे कौन्तेय, युद्ध के लिए संकल्प करके उठ खड़े होओ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥38॥

38। [यदि गुरु-हत्या आदि पापों की आशंका है, तो सुनो—] सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय इन सबको

एक समान समझकर [केवल 'स्वधर्म' पालन के विचार से] युद्ध के लिए कमर कस लो। इस प्रकार तुम पाप से बच सकोगे।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥39॥

39। हे पार्थ! अब तक मैंने तुम्हें 'सांख्य' (आत्म-तत्त्व) के संबंध में बताया है। अब तुम 'भक्तियोग'-समन्वित बुद्धि के बारे में सुनो—जिसको समझकर तुम कर्म-बंधन (संसार) से पूरी तरह छूट जाओगे।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥40॥

40। इस योग में की गई चेष्टा कभी व्यर्थ नहीं होती। इसमें विघ्न-बाधा भी नहीं आती तथा विपरीत फल भी नहीं होता। इस अनुष्ठान का थोड़ा सा पालन भी जीव को बड़े भारी [संसार रूपी] भय से बचा लेता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥41॥

41। हे कुरुनन्दन! इस योग में [ईश्वर-आराधना लक्षित होने के कारण] बुद्धि एकाग्र (एकनिष्ठा) एवं निश्चयात्मिका रखनी होती है। अव्यवसायी (ईश्वर-विमुख सकाम विचारों वाले) व्यक्तियों की कामात्मक बुद्धियाँ अनन्त और साधन अनेक शाखाओं वाला होता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥42॥

कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥43॥

42–43। हे पार्थ, ये सब मूर्ख लोग वेदों के उन तात्कालिक मोहक शब्दों को ही वेद–वाणी मानकर उनमें फँसे रहते हैं, जिनसे इन्द्रियों की तृप्ति होती है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इस प्रकार के भोग और ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए जन्म एवं कर्मफल देने वाली तरह–तरह की विशेष क्रियाएँ (आड़म्बर) बताई गई हैं। वे वेदों के गौण–अर्थ में मग्न होकर कहते हैं कि, 'वेदों में इससे बढ़कर और कुछ नहीं है'।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥44॥

44। यह सब बातें उन्हीं सब लोगों का मन हरण करती हैं, जो भोग और ऐश्वर्य में पूरी तरह आसक्त रहते हैं; इसीलिए ऐसे लोगों का 'समाधि' अर्थात् परमेश्वर के भजन के प्रति निश्चयात्मिका बुद्धि (दृढ़ संकल्प) नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥45॥

45। हे अर्जुन! बाह्य दृष्टि से लगता है कि वेदों में सत्त्व, रज और तम—प्रकृति के इन तीनों गुणों की ही चर्चा की गई है; किन्तु तुम वेदों का वास्तविक तात्पर्य 'निर्गुणता' का अवलम्बन करो अर्थात् इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। [उसका उपाय यह है कि,] तुम 'निर्द्वन्द्व' होओ अर्थात् मान–अपमान आदि द्वन्द्वों से मुक्त होओ; 'नित्यसत्त्वस्थ' होओ अर्थात् सदा शुद्ध भक्त के संग में रहो तथा 'योग–क्षेम' अर्थात अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति (योग) एवं

उस वस्तु की रक्षा (क्षेम) की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर 'आत्मवान्' होओ अर्थात् केवल परमात्मा विश्वम्भर श्रीहरि को ही अपने पालनकर्त्ता के रूप में वरण करो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥46॥

46। [वास्तव में सभी वेदों का तात्पर्य ही ईश्वर-आराधना है, जैसे] छोटे-छोटे कुओं के द्वारा जो सब अलग-अलग कार्य साधित होते हैं, वे सब एक विशाल जलाशय से एक साथ ही पूरे हो जाते हैं। उसी तरह सारे वेदों की अलग-अलग शाखाओं में (अलग-अलग देवताओं की उपासना के द्वारा) जो सब फल प्राप्त होते हैं, वे सब फल वेदों के तात्पर्य को जानने वाले ब्राह्मणों को एक-ईश्वर की आराधना से ही प्राप्त हो जाते हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥47॥

47। [किन्तु जिनमें इन तीनों गुणों से ऊपर उठने का सामर्थ्य नहीं है, उनके लिए कहते हैं—] तुम्हें केवल अपने वर्णाश्रम के धर्म अनुसार कर्म करने का अधिकार है किन्तु उसका फल तुम्हारे अधिकार में नहीं; इसलिए तुम्हें कर्म का अमुक फल मिले ऐसी इच्छा कभी मत रखो और न ही अपने कर्म से दूर रहने की कोशिश करो।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥48॥

48। [यहाँ मेरा उपदेश है कि,] हे धनञ्जय! 'योग' का आश्रय लेकर, कर्म में आसक्ति को छोड़कर अपने

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करो। [यदि कहते हो कि, 'योग' क्या है, तो सुनो,] कर्मफल की सफलता और असफलता, दोनों विषयों में समान-भाव रखने को ही योग कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥49॥

49। हे धनञ्जय! बुद्धियोग का सहारा लेकर जो कर्म किया जाता है, वह निष्काम है; इससे सकाम कर्म बहुत ही तुच्छ है। फल की इच्छा रखने वाले मनुष्य 'कृपण' हैं (अर्थात् कर्म करके भी उसके वास्तविक फल से वंचित हैं)। इसलिए उस बुद्धियोग का ही आश्रय लो।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥50॥

50। 'बुद्धियोग' से युक्त व्यक्ति इस जन्म में ही पाप और पुण्य दोनों को त्याग देता है। उसी योग के लिए चेष्टा करो क्योंकि बुद्धियोग ही वास्तव में कर्म की कुशलता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥51॥

51। जो लोग 'बुद्धियोग' से युक्त हैं, वे विद्वान हैं। वे कर्मों के फल का त्याग करके (अर्थात् उन्हें मुझमें अर्पण करके), जन्म-मृत्यु के बंधन से छूट जाते हैं और वैकुण्ठ में जा पहुँचते हैं, जहाँ कोई दुःख नहीं होता।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥52॥

52। [जीवों का फल की इच्छा रूपी मोह बहुत प्रबल है, ऐसी अवस्था में] जब तुम्हारी बुद्धि, मोह रूपी दलदल को पार कर जायगी, तब कर्मों के जिस फल के बारे में तुमने पहले सुना है और बाद में सुनोगे, उसके प्रति तुम्हारा वैराग्य उत्पन्न होगा।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥53॥

53। जब तुम्हारी बुद्धि वेदों के विभिन्न अर्थों को सुनकर भी विचलित न होकर 'समाधि' अर्थात् परमेश्वर की आराधना में स्थिर हो जायगी, तब तुम 'योग' (आत्मा-परमात्मा की अनुभूति) को प्राप्त हो जाओगे।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥54॥

54। अर्जुन ने कहा,—हे केशव! समाधि में अवस्थित 'स्थितप्रज्ञ' (स्थिर बुद्धि वाले) व्यक्ति का क्या लक्षण है? वह स्थिर-बुद्धि पुरुष, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा और स्नेह-द्वेष की स्थिति आने पर किस प्रकार बोलता है, किस प्रकार बैठता है, किस प्रकार चलता है?

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥55॥

55। श्रीभगवान् ने कहा,—जब मनुष्य मन में रहने वाली सब कामनाओं को पूरी तरह त्याग देता है और स्वयं अपने में ही आत्मा के द्वारा (अर्थात् अपने भीतर ही परमात्मा के स्वरूप का अनुभव करते हुए) संतुष्ट

रहता है, तब समाधि में स्थित वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥56॥

56। जब किसी प्रकार के दुःख से उसका मन विचलित नहीं होता, किसी प्रकार के सुख की प्यास नहीं रहती एवं उसके आसक्ति, भय और क्रोध नष्ट हो जाते हैं, तब वह मुनी स्थिर बुद्धि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥57॥

57। जिसे किसी जड़ वस्तु से स्नेह नहीं होता और कोई शुभ–अशुभ वस्तु पाकर जिसे आनन्द या द्वेष नहीं होता, उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥58॥

58। कछुआ जैसे अपने अंगों को सब ओर से इच्छा अनुसार समेट लेता है, वैसे ही जब कोई व्यक्ति विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥59॥

59। [उसकी वह विषय–निवृत्ति साधारण व्यक्ति की तरह नहीं है क्योंकि,] इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण न करने वाले व्यक्ति के विषय तो छूट जाते हैं, पर विषय–भोग की प्यास बनी रहती है। किन्तु परम तत्त्व–वस्तु (परमात्मा)

का अनुभव करके वह प्यास भी समाप्त हो जाती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥60॥

60। हे कौन्तेय! इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि उन्हें [योग, प्राणायाम आदि 'आरोह'-मार्ग के द्वारा] वश में करने का प्रयत्न करने वाले विवेकी व्यक्ति के मन को भी वे बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥61॥

61। [इसलिए] योगी को चाहिए कि उन सब इन्द्रियों पर संयम करके मेरे आश्रित हो जाय। इस तरह जिसकी इन्द्रियाँ वश में हो गई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
sसंगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥63॥

62-63। [दूसरी ओर जिसने अपना मन मुझमें समर्पित नहीं किया है उसकी दुर्दशा बता रहा हूँ सुनो,] विषयों का ध्यान करने वाले व्यक्ति की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना (अर्थात् उन विषयों की वासना) पैदा होती है, और इस कामना से ही क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मोह, मोह से स्मृति में भ्रम होता है (अर्थात् वह शास्त्र के उपदेशों को भूल जाता है)। स्मृति नष्ट हो जाने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है अर्थात् वह घोर इन्द्रिय-तर्पणमय संसार दशा रूपी पतन को प्राप्त

होता है।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥64॥

64। [किन्तु] 'विधेयात्मा' अर्थात् जिसका हृदय मुझमें समर्पित है, उसकी इन्द्रियाँ आत्मा के अधीन होने के कारण विषयों के प्रति आसक्ति या द्वेष से मुक्त होती हैं। इसलिए इन सब इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करने पर भी वह सदा प्रसन्न रहता है। (अर्थात् विषयों के सम्पर्क में आने से जो मन में विकार उत्पन्न होते हैं, वह उनसे पीड़ित नहीं होता)।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥65॥

65। चित्त प्रसन्न रहने से उसके [संसार में रहने के कारण पैदा हुए] सब दुःखों का नाश हो जाता है। और, फलस्वरूप उस व्यक्ति की बुद्धि पूरी तरह से अपने आराध्यदेव में स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥66॥

66। [दूसरी ओर] मेरे साथ जिसका सम्बन्ध नहीं हुआ, उस 'अयुक्त' व्यक्ति की परमार्थ के प्रति दृढ़ बुद्धि नहीं रहती, फलस्वरूप उसकी भगवद्-भावना भी नहीं होती। भगवद्-भावनाहीन व्यक्ति को शान्ति नहीं मिलती, और अशान्त व्यक्ति को आत्मानुभव-रूपी परम सुख कैसे मिल सकता है?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥67॥

67। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय के पीछे भी यदि मन चल पड़ता है तो वह उसकी 'प्रज्ञा' (आत्म-विषयक ज्ञान) को इस प्रकार हर लेती है जैसे जल में मल्लाह के बिना तैर रही नाव को वायु खींचा करती है।

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥68॥

68। इसलिए हे महाबाहो! [सार बात यह है कि] जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ विषयों से सब ओर से हट जाती हैं (अर्थात् आत्मा के अधीन हो जाती हैं), उसकी बुद्धि ही स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥69॥

69। [साधारण लोग और स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति में क्या अन्तर है, वह सुनो,] जिस आत्म-तत्त्व की निष्ठा के प्रति सब प्राणी रात की नींद की तरह सोये रहते हैं, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति उसमें हमेशा जागता रहता है। एवं जिन सांसारिक विषयों की निष्ठा में प्राणी जागते रहते हैं, तत्त्वदर्शी मुनियों को वह रात मालूम होती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥70॥

70। [और भी देखो,] जैसे समुद्र सदा जल से भरा रहता है किन्तु उसमें अनेक नदियों का जल लगातार भरते

रहने पर भी वह 'अचलप्रतिष्ठ' अर्थात् स्थिरता में प्रतिष्ठित रहता है। उसी प्रकार सब कामनाएँ यदि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में प्रवेश भी कर जायें तो भी उसे विचलित नहीं कर पाती बल्कि वह ही शांति प्राप्त करता है। भोगों की कामना करने वाले को कभी शान्ति नहीं मिल सकती।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥71॥

71। [इसलिए] जो पुरुष सब भोग-वासनाओं को छोड़कर कामना रहित विचरता है उस निष्काम, ममता रहित और अहंकारहीन व्यक्ति को ही शांति मिलती है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥72॥

इति 'सांख्ययोगो' नाम द्वितीयऽध्यायः॥

72। हे पार्थ, इसी को कहते हैं 'ब्राह्मीस्थिति'—इसमें पहुँचने से दुबारा संसार मोह में नहीं फँसना पड़ता है। जीवन की अन्तिम घड़ी में भी इस दशा को प्राप्त कर पाने से 'ब्रह्मनिर्वाण' (जड़ मुक्ति) प्राप्त हो जाता है।

इति द्वितीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः
कर्मयोगः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥1॥

1। अर्जुन ने पूछा,—हे जनार्द्दन! हे केशव! यदि आप ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ मानते हैं, तो मुझे इस युद्ध रूपी भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥2॥

2। आप अनेक प्रकार के अर्थों वाले वचनों से मेरी बुद्धि को मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिए ऐसी एक ही बात निश्चित करके कहिये, जिससे मेरा मंगल हो।

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥3॥

3। श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन, मैंने पहले ही बताया है कि, इस संसार में अधिकार के आधार पर दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—एक ज्ञानियों की ज्ञानयोग में और दूसरी योगियों की कर्मयोग में।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥4॥

4। 'कर्म' (अर्थात् शास्त्र में कथित कर्त्तव्य) के न करने से मनुष्य 'नैष्कर्म्य' (कर्म से आगे बढ़कर ज्ञान का

अधिकार) प्राप्त नहीं कर सकता और संन्यास मात्र से ही उसे सिद्धि मिल सकती है, ऐसा भी नहीं है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥5॥

5। [क्योंकि] कोई मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। सब मनुष्य अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अधीन होकर कर्म करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥6॥

6। [इसलिए केवल बाह्य दृष्टि से संन्यास लेकर] जो मूर्ख व्यक्ति कर्म-इन्द्रियों को हठ से रोककर मन ही मन उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् ढोंगी और कपटी है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥7॥

7। किन्तु हे अर्जुन, इसकी अपेक्षा जो व्यक्ति मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त रहता हुआ बाहरी तौर पर कर्म-इन्द्रियों से कर्मयोग के लिए प्रयास करता है, वह अति श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥8॥

8। [इसलिए] तुम शास्त्र द्वारा बताए संध्या-उपासना आदि नित्य कर्म अवश्य करो। [अशुद्ध-चित्त व्यक्ति के लिए] कर्म न करने से कर्म करना ही अच्छा है। क्योंकि बिना कर्म किये तो तुम्हारे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो

सकता।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥9॥

9। [लेकिन 'कर्म' के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि,] यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के लिए किये हुए निष्काम कर्मों के अतिरिक्त दूसरे सब कर्म बंधन में डालने वाले होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय! तुम फल की आसक्ति को छोड़कर उन भगवान् श्रीविष्णु के उद्देश्य से भलिभाँति कर्म करते रहो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥10॥

10। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ के द्वारा देवता–मनुष्य आदि प्रजाओं की सृष्टि करके कहा कि इस यज्ञ से तुम फूलो–फलो, यह यज्ञ तुम्हारी सब कामनाएँ पूरी करेगा।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥11॥

11। इस यज्ञ से तुम लोग देवताओं को [यज्ञ का हविः प्रदान कर] संतुष्ट करते रहो और वे देवता [फल प्रदान करके] तुम्हें संतुष्ट करें। इस तरह एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए तुम लोग परम कल्याण प्राप्त कर सकोगे।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥12॥

12। यज्ञ से संतुष्ट हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग प्रदान करेंगे। देवताओं द्वारा दिये भोगों को जो मनुष्य इन

देवताओं को अर्पण किये बिना केवल स्वयं भोगता है, वह निश्चित रूप से दण्ड-भागी चोर है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥13॥

13। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के अवशेष (उच्छिष्ट) भाग को ग्रहण करने वाले साधु सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर जो पापी लोग केवल अपना पेट पालने के लिए ही रसोई पकाते हैं, वे दुराचारी पाप को ही खाते हैं (अर्थात् उससे चित्त दूषित होता है)।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥14॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥15॥

14–15। [अब यज्ञ के सम्बन्ध में श्रवण करो,] अन्न के द्वारा [शुक्र-शोणित के माध्यम से] सभी प्राणियों का शरीर उत्पन्न होता है। वह अन्न वर्षा से पैदा होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, और यज्ञ की उत्पत्ति वैदिक कर्मों से होती है। वैदिक कर्म की उत्पत्ति 'ब्रह्म' (वेद) से होती है और वेद अक्षर-वस्तु अर्थात् अविनाशी परमेश्वर से उत्पन्न होता है। इसलिए सर्वव्यापक ब्रह्म को सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित (विराजमान) जानो।

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥16॥

16। हे पार्थ! यह है परमेश्वर द्वारा प्रवर्त्तित 'कर्मचक्र'; जो व्यक्ति इस चक्र के अधीन यज्ञ-व्यवस्था रूपी धर्म का पालन नहीं करता, वह पापी इन्द्रियों के

भोगों में व्यर्थ ही जीता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥17॥

17। किन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करता (अर्थात् आत्माराम) है, आत्मानन्द में ही तृप्त रहता है और केवल आत्मविचार में ही संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रहता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥18॥

18। [क्योंकि] इस संसार में उस व्यक्ति को न तो कर्म करने से कोई पुण्य प्राप्त होता है और न ही कर्मों के न करने से कोई पाप लगता है; फिर किसी स्वार्थ के लिए दूसरे सब प्राणियों (देवता या मनुष्य) में से किसी की भी शरण नहीं लेनी पड़ती।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥19॥

19। इसलिए [उस स्थिति तक पहुँचने के लिए] तुम कर्मफल में अनासक्त रहते हुए सदा शास्त्रों में वर्णित कर्म करते रहो। इस प्रकार आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाले व्यक्ति को शरीर से परे आत्मा की अनुभूति प्राप्त होती है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि॥20।

20। महाराज जनक आदि महात्माओं ने भी इस प्रकार कर्म से ही आत्मानुभव रूपी सिद्धि पायी थी। उसी

तरह लोगों को शिक्षा देने की भावना से ही तुम्हें कर्म करना चाहिए।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥21॥

21। [क्योंकि] श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। वह जो कुछ करता है, वही प्रमाणिक होता है— लोग उसके दिखाए आदर्श के अनुसार ही चलते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥22॥

22। [इसलिए] हे पार्थ! भले ही तीनों लोकों में न मेरा कुछ कर्त्तव्य है और न ही मेरे लिए कोई वस्तु अप्राप्त है या प्राप्त करने योग्य रह गई है, तो भी मैं कर्म करता रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥23॥

23। यदि मैं सावधानीपूर्वक शास्त्र में बताए कर्म न करता रहूँ तो हे अर्जुन, लोग सब प्रकार मेरे ही मार्ग पर चलने लग जायेंगे। (अर्थात् मेरे कर्म न करने पर वे भी कर्म करना छोड़ देंगे)।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥24॥

24। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सारे लोग कर्म न करने के कारण भ्रष्ट हो जायेंगे। इससे सांकर्य (व्यभिचार) उत्पन्न होगा और प्रजाओं का अमंगल होगा।

फलस्वरूप मैं सब व्यवस्था और मर्यादाओं को तोड़ने वाला तथा प्रजाओं के नाश का कारण बन जाऊँगा।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥25॥

25। [इसीलिए] हे भारत! जैसे अज्ञानी लोग कर्मों में आसक्त होकर कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि वह लोगों को शिक्षा देने की भावना से उन्हीं सब कर्मों में अनासक्त रहकर कर्म करता रहे।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥26॥

26। विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानी लोगों की बुद्धि में कभी भी भ्रम पैदा न करे (अर्थात् उनसे अधिकार के बाहर जाकर कर्म को त्यागकर ज्ञान का अभ्यास न कराये)। बल्कि विद्वान् व्यक्ति स्वयं सावधान (अनासक्त) रहकर सब कार्य भलिभाँति करता हुआ उनसे भी वैसा ही कराए।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥27॥

27। यद्यपि सब कर्म प्रकृति के गुणों (सत्व, रज, तम) द्वारा किये जा रहे हैं, परन्तु जड़-अहंकार से मोहित जीव यह मानता है कि 'करने वाला मैं ही हूँ'।

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥28॥

28। किन्तु हे महाबाहो अर्जुन, प्रकृति के गुण और

कर्म दोनों ही आत्मा से अलग हैं, जो इसे समझता है वह तत्त्वज्ञानी है; यह जानकर कि जड़ इन्द्रियाँ तो जड़ रूप-रस आदि में ही रत हैं [किन्तु मैं चिद्-वस्तु 'आत्मा' हूँ, इसलिए इन सबसे अलग हूँ]—वह इनमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥29॥

29। प्रकृति के गुणों से बहके हुए जीव गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं। किन्तु जिन्हें इस सब की जानकारी है, वे उन कम बुद्धि वाले अज्ञानियों को भ्रमित करके विचलित न करें।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥30॥

30। [इसीलिए हे अर्जुन, तुम्हारे लिए उपदेश है कि,] तुम आत्मनिष्ठ चित्त से सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दो। ['प्रभु का आदेश है, केवल इसीलिए कर रहा हूँ'—इस विचार से] सब कामनाओं और ममता को छोड़कर शोक-रहित मन से युद्ध करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥31॥

31। [यह है 'मुझमें अर्पित निष्काम कर्मयोग'] यही मेरा मत है; जो मनुष्य सदा मेरे इस विचार के अनुसार चलता है, वह कर्म-बंधन से छूट जाता है। लेकिन जो लोग ऐसा करने में असमर्थ हैं और दोष न खोजकर इस विचार के प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे भी कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥32॥

32। [दूसरी ओर] जो लोग ईर्ष्या के कारण मेरे इस मत के अनुसार नहीं चलते, वे [जितना भी अपने आप को ज्ञानी मान लें, लेकिन असल में] सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य उन मूर्खों को भ्रष्ट हुआ समझना।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥33॥

33। [यदि कहो कि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर तो संन्यास ग्रहण करना चाहिए, कर्मयोग की आवश्यकता नहीं है तो सुनो,] ज्ञानी व्यक्ति भी अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करता है। सभी प्राणी अपने कई जन्मों के अभ्यास से बने स्वभाव अनुसार रहते हैं। ऐसी दशा में अचानक इन्द्रिय-संयम (हठ) क्या करेगा? (अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति को भी निष्काम कर्मयोग का पालन करना चाहिए)।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥34॥

34। [यदि कहो कि, विषयों को ग्रहण करने से उनके प्रति आसक्ति कैसे दूर होगी, तो सुनो,] प्रत्येक जड़ इन्द्रिय का अपने-अपने जड़ विषय के प्रति आसक्ति और द्वेष होता है। इसलिए इन दोनों के वश में मत आना क्योंकि ये आसक्ति और द्वेष व्यक्ति को पुरुषार्थ-साधन (कल्याण) के मार्ग से भ्रष्ट करते हैं।

३४. [जर म्हणशील की, विषय ग्रहण केल्याने त्यांच्याबद्दलची आसक्ती कशी दूर होईल, तर ऐक,] प्रत्येक जड इंद्रियाची आपापल्या जड विषयाबद्दल आसक्ती आणि द्वेष असतो. म्हणून या दोघांच्याही अधीन होऊ नकोस,

कारण हे आसक्ती आणि द्वेषरूपी अनर्थ व्यक्तीला पुरुषार्थ–साधनाच्या (कल्याण–प्राप्तीच्या) मार्गापासून भ्रष्ट करतात.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥35॥

35। [यदि कहो कि, आसक्ति और द्वेष रहित होकर युद्ध करना कठिन है लेकिन अहिंसा वृत्ति सुसाध्य है, तो सुनो,] पराये धर्म का पालन आसानी से किया जा सके एवं अपना धर्म भलिभाँति पालन न हो सके तो भी पर–धर्म की अपेक्षा अपने धर्म का पालन ही श्रेष्ठ है। अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है किन्तु पर–धर्म बड़ा भयानक होता है।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥36॥

36। अर्जुन ने कहा—अतः हे वार्ष्णेय! [आसक्ति और द्वेष के वशीभूत होने के लिए मना किया है लेकिन देखा जाता है कि] मनुष्य न चाहता हुआ भी जबरदस्ती पाप करता है। इसलिए प्रश्न है कि किसके द्वारा प्रेरित होकर जीव पाप करता है?

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥37॥

37। श्रीभगवान् ने कहा,—रजोगुण से पैदा हुआ यह काम (वासना) और क्रोध; (कामना पूरी होने में बाधा आने पर यह काम ही तमोगुण का आश्रय लेकर क्रोध का रूप धारण कर लेता है)। यह काम सर्वभक्षी है

(अर्थात् कभी तृप्त नहीं होता) और महापाप करवाने वाला है। पुरुषार्थ साधन के मार्ग में इसी को तुम प्रधान शत्रु समझना।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥38॥

38। [यह काम कई प्रकार का है,] जिस प्रकार धुएँ से अग्नि और धूल से दर्पण ढका रहता है, और जैसे जरायु से गर्भ छिपा रहता है, उसी प्रकार इस काम के द्वारा जीवचैतन्य शिथिल रूप से, गाढ़ रूप से और अति गाढ़ रूप से ढका रहता है (अर्थात् काम की गाढ़ता के अनुसार बद्धजीव में ज्ञान ढका रहता है)।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥39॥

39। हे कौन्तेय! जैसे अग्नि की भूख को कभी शान्त नहीं किया जा सकता, उसी तरह यह काम ऐसी अग्नि है जो कभी तृप्त नहीं होती। इस काम के द्वारा जीवों का ज्ञान ढका रहता है। ज्ञानियों के लिए यह काम चिर-शत्रु के समान है (अर्थात् काम के संबंध में ज्ञानी हमेशा सावधान रहते हैं किन्तु अज्ञानी जीव सदा असावधान)।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥40॥

40। स्थूल शरीर में इन्द्रियाँ एवं सूक्ष्म शरीर में मन और बुद्धि इस काम के रहने के स्थान बताये गए हैं। इन्हीं के आश्रय से धर्म-अधर्म के ज्ञान पर परदा डालकर यह काम जीव को भ्रमित करता है (अर्थात् इसी प्रकार

जीव पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है)।

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥41॥

41। इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! तुम पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापी काम को मारो।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः॥42॥

42। [आत्म-अनुशीलन के द्वारा कैसे काम का नाश होता है, वह सुनो] शरीर में इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहा जाता है, सभी इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से भी श्रेष्ठ है, वह आत्मा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥43॥

इति 'कर्मयोगो' नाम तृतीयोऽध्यायः।

43। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (अर्थात् आत्मा—जड़ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से परे है इसलिए स्वरूपतः भगवान् से सम्बन्धित अप्राकृत चिद्-वस्तु है, इसे समझकर) आत्मतत्त्व के विचार से अपने आप को स्थिर करके अर्थात् अपने आप को भगवान् का दास रूप श्रेष्ठ तत्त्व जानकर मन को वश में करके तुम इस काम रूपी दुर्जय शत्रु का नाश करो।

इति तृतीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः
ज्ञानयोगः

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा,—कभी नष्ट न होने वाले इस योग का मैंने पहले सृष्टि के प्रारम्भ में विवस्वान् (सूर्य) को उपदेश दिया था। उसने अपने पुत्र मनु को इसका उपदेश दिया और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इसकी शिक्षा दी।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥2॥

2। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना। किन्तु हे परन्तप! यह योग बहुत समय बीतने पर इस लोक से नष्ट-सा हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥3॥

3। यह वही प्राचीन योग है, जो आज मैंने तुम्हें बताया है। तुम मेरे भक्त और सखा भी हो, इसीलिए तुम्हें यह बताया है, [दूसरों को नहीं, क्योंकि] यह उत्तम रहस्य है।

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥4॥

4। अर्जुन ने कहा,—हे केशव आपका जन्म तो अभी हुआ है, सूर्य का जन्म सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ था। इसलिए इस बात पर कैसे विश्वास करूँ कि इस योग को सृष्टि के प्रारम्भ में पहले आपने सूर्य को कहा था? (अर्थात् साधारण मूर्ख लोग आपकी इन बातों पर अविश्वास करके अपराध न कर बैठें, इसीलिए मैं उनकी ओर से पूछ रहा हूँ)।

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥5॥

5। श्रीभगवान् ने कहा,—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे [इस प्रकार एकसाथ] बहुत से जन्म हो चुके हैं। मैं [परमेश्वर होने के कारण] उन सब जन्मों को जानता हूँ, किन्तु तुम [अणु चैतन्य जीव होने के कारण] उन्हें नहीं जानते हो।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥6॥

6। [सबसे पहले वर्णन करता हूँ कि मैं कौन हूँ,] मैं अजन्मा, अनश्वर स्वयं आत्म-स्वरूप हूँ (अर्थात् मुझमें देह-देही का भेद नहीं है)। मैं सब प्राणियों का ईश्वर अर्थात् स्वामी होते हुए भी अपनी प्रकृति (अर्थात् अपने नित्यसिद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप) को अवलम्बन करके अपनी ही योगमाया से जगत में अवतरित होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥7॥

7। हे भारत, जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ने लगता है, तब-तब मैं अपनी इच्छा से अपने नित्यसिद्ध देह को प्रकट करता हूँ। (अर्थात् मैं स्वयं ही अपना स्रष्टा हूँ—मेरा कोई स्रष्टा नहीं है; 'शून्य' या 'निराकार'-ब्रह्म मेरा स्रष्टा नहीं है)।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥8॥

8। मेरे प्रति पूर्ण शरणागत साधुओं को मेरे दर्शन न होने से जो दुःख होता है, उससे रक्षा करने के लिए और जो सब दुष्ट दूसरों के द्वारा नहीं मारे जा सकते, उनके नाश और शुद्ध-भक्तियोग रूपी आत्मधर्म की स्थापना के लिए मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥9॥

9। हे अर्जुन, मेरे जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य (अप्राकृत) हैं, जो व्यक्ति शास्त्रों के आधार पर इस बात को ठीक-ठीक जानता है, वह देह त्यागने के बाद फिर जन्म नहीं लेता, बल्कि मुझ नित्य सच्चिदानन्द विग्रह परब्रह्म को ही प्राप्त करता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥10॥

10। [केवल अभी नहीं, पहले भी] जड़ आसक्ति, भय और क्रोध को छोड़कर मेरे अनन्य आश्रित बहुत से व्यक्ति मेरी शरण में आ चुके हैं। और मेरे नाम-रूप-लीला आदि की नित्यता का ज्ञान और उसके अनुभव रूपी तपस्या से पवित्र होकर मेरे प्रति विशुद्ध प्रेम प्राप्त

कर चुके हैं, (अर्थात् मुझको केन्द्रित करके प्रत्येक युग में साधन–भजन विद्यमान है)।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥11॥

11। [सब साधक ऐसे प्रेम नहीं प्राप्त कर पाते, क्योंकि] जो जिस भाव से मुझको भजता है (अर्थात् जिस उपाय से मेरी शरण ग्रहण करता है), मैं भी उसको वैसे ही भजता हूँ (अर्थात् साधन के अनुसार फल देता हूँ, सबको एक ही फल नहीं)। लोग हर तरह से मेरे ही विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं (अर्थात् जगत में जितने सब साधन है, जैसे भक्ति ही नहीं अपितु ज्ञान, कर्म, योग, तपस्या, त्याग, देव उपासना आदि विद्यमान हैं, सबका इच्छित फल मैं ही प्रदान करता हूँ)।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥12॥

12। [अब पूर्व प्रसंग के अनुसार पुनः कर्म का विचार बता रहा हूँ, सुनो] इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं की उपासना करते हैं क्योंकि इससे उनके कर्मों से उत्पन्न हुआ फल उन्हें जल्दी ही मिल जाता है, (अर्थात् अधिकांश लोग सकाम हैं और देवताओं की उपासना करने वाले हैं, लेकिन मुझे अर्पित निष्काम कर्मयोग करने वाले विरल हैं)।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥13॥

13। मैंने गुण और कर्म के भेद से ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की सृष्टि की है। इस कार्य का कर्त्ता होने पर

भी तुम मुझे 'अकर्त्ता' (कर्म द्वारा अस्पृश्य) और अविनाशी जानो।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥14॥

14। मैं विश्व-सृजन आदि सब कर्मों में कभी लिप्त नहीं होता क्योंकि उनके फल की मुझे कोई इच्छा नहीं है। जो मेरे तत्त्व को इस प्रकार भलिभाँति जान लेता है, उसे भी (मेरी कृपा से) कर्म नहीं बाँध सकते (अर्थात् जो लोग मुझे कर्म या कर्मफल के अधीन मानते हैं, वे उस दोष के कारण कर्म द्वारा बंधे ही रहते हैं)।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥15॥

15। प्राचीन काल में जिन्होंने मोक्ष पाने का प्रयास किया था, उन्होंने भी इस तत्त्व को समझने के बाद सकाम कर्म को पूरी तरह त्यागकर मुझमें अर्पित निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया था। इसलिए तुम भी प्राचीन महाजनों की तरह ही उस निष्काम कर्मयोग का आश्रय लो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥16॥

16। किसे 'कर्म' और किसे 'अकर्म' कहते हैं— इसका निर्णय लेने में बड़े-बड़े विद्वान लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं, (अर्थात् कार्य मात्र ही 'कर्म' नहीं है और तात्कालिक दृष्टि से कार्य किए बिना रहना भी 'अकर्म' नहीं है)। इसलिए मैं उसी कर्म-तत्त्व का उपदेश तुम्हें देता हूँ जिसे जानकर तुम सब प्रकार के अमंगलों से मुक्त हो

जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥17॥

17। कर्म की गति बहुत गहरी है इसलिए यह जान लेना चाहिए कि कर्म, अकर्म और विकर्म कर्म क्या हैं (जो सदाचार शास्त्र में वर्णित है उसे 'कर्म' कहते हैं। जिस आचरण को शास्त्र में निषिद्ध किया गया है, उसे 'विकर्म' कहते हैं। और शास्त्र में वर्णित कर्मों को न करना 'अकर्म' कहलाता है।)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥18॥

18। जो निर्लिप्त भाव से कर्म में अकर्म देखता है (अर्थात् जिसने कर्मफल की इच्छा छोड़ दी है, 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा अभिमान भी त्याग दिया है, कर्म और अकर्म उसके सामने एक ही रूप धारण करते हैं) एवं दूसरी ओर जो 'अकर्म' में कर्म देखता है (अर्थात् जो यह समझता है कि अशुद्ध हृदय वाले कपटी व्यक्ति का दिखावटी कर्म–त्याग असल में कर्म ही है), वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह योगी सब कर्म करने वाला है (अर्थात् कर्म और अकर्म के सम्बन्ध में उसे किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता, इसीलिए वह भलिभाँति सबकुछ करने में समर्थ है)।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥19॥

19। जो फल की इच्छा को छोड़कर सब कर्म करता है, [उसके वह मन को शुद्ध करने वाले कर्म धीरे–

धीरे ज्ञान का आकार ले लेते हैं, तब] उसी ज्ञान की अग्नि से उसके पिछले सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को ज्ञानी लोग आत्मज्ञ पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥20॥

20। कर्मफल की इच्छा को छोड़कर जो सदा अपनी नित्य आत्मानुभूति में तृप्त रहता है—उसे इस संसार में किसी आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती। वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥21॥

21। जिसने सब आशाओं को छोड़कर अपने मन को नियन्त्रित कर लिया है, सब प्रकार के सांसारिक विषयों के प्रति ममता-रहित है, वह निष्काम व्यक्ति केवल शरीर की रक्षा के लिए कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥22॥

22। बिना इच्छा के अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उससे संतुष्ट, सुख-दुःख, मान-अपमान के संघर्ष और ईर्ष्या से रहित तथा सफलता और विफलता में एक जैसा रहने वाला पुरुष कर्म करने पर भी उससे नहीं बँधता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥23॥

23। जिसकी जड़ विषयों में आसक्ति नष्ट हो चुकी

है, जो राग-द्वेष से मुक्त है, जिसका चित्त आत्मविषयक ज्ञान में स्थिर है और जो केवल यज्ञ के लिए कर्म करता है, उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् उन कर्मों से किसी जड़ीय कर्मफल की सृष्टि नहीं होती)।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥24॥

24। [यज्ञ रूपी कर्म से कैसे ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यज्ञतत्त्व बता रहा हूँ, श्रवण करो। यज्ञ के पाँच अंग हैं—अर्पण, हविः, अग्नि, होता और फल]। 'अर्पण' अर्थात् जिसके द्वारा अर्पण किया जाता है, वह यज्ञ का चमचा (सुवा), मन्त्र आदि; 'हविः' अर्थात् घी आदि हवन की सामग्री; 'अग्नि' अर्थात् जिस हवन रूपी अग्नि में अर्पण किया जाता है; 'होता' अर्थात् यज्ञ करने वाला यजमान—ये सभी ब्रह्मात्मक हैं। और एकाग्र चित्त से की गई वह कर्म रूपी समाधि—ब्रह्म है; इसलिए उस यज्ञ के 'फल' रूप से ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥25॥

25। [यज्ञ बहुत प्रकार के हैं,—] कर्मयोगी देवताओं के पूजन के लिए देव-यज्ञ करते हैं। और दूसरे जो सब ज्ञानयोगी हैं, वे ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ रूपी सब कर्मों की आहुति देते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥26॥

26। और एक प्रकार के योगी हैं—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वे संयम-रूपी अग्नि में इन्द्रियों का होम करते हैं। और

कुछ दूसरे योगी (गृहस्थ) हैं, वे इन्द्रिय रूपी अग्नि में शब्द आदि विषयों की आहुति देकर यज्ञ करते हैं (अर्थात् आसक्ति छोड़कर विषयों को ग्रहण करते हैं)।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥27॥

27। और एक प्रकार के योगी (पातंजल योगी) हैं, वे सारी इन्द्रियाँ और उनके कर्म (श्रवण दर्शन आदि) एवं दस प्राण और उनके कार्यों की ज्ञान से जलती हुई आत्म–संयम रूपी योग की अग्नि में आहुति दिया करते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥28॥

28। इस प्रकार कुछ संयमी व्यक्ति धन–सम्पत्ति का दान करके 'द्रव्य–यज्ञ' करते हैं, कुछ कष्टसाध्य चान्द्रायण–व्रत आदि 'तप–यज्ञ' करते हैं, कुछ 'योग– यज्ञ' (अष्टांग योग रूपी यज्ञ) करते हैं और कुछ स्वधर्म पालन करते हुए (वेद पाठ रूपी) 'स्वाध्याय ज्ञान–यज्ञ' करते हैं। इस प्रकार यत्न करने वाले सभी व्यक्ति दृढ़ व्रती हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति॥29॥

29। और कुछ योगी प्राणायाम में रत रहते हैं। वे 'अपान'–वायु में 'प्राण'–वायु की आहुति देते हैं और इसी तरह 'प्राण'–वायु में 'अपान'–वायु की। इस प्रकार वे क्रमशः प्राण और अपान वायु की गति रोककर प्राणायाम (कुम्भक) का अभ्यास करते हैं। और कुछ ऐसे भी योगी

हैं जो भोजन को नियमित करके प्राणों की प्राणों में आहुति देते हैं।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥30॥

30। ये सब यज्ञ का तत्त्व जानते हैं और यज्ञ से अपने पापों का नाश करके यज्ञ के अवशेष अमृत का सेवन कर अंत में सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥31॥

31। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन, यज्ञ न करने वाले व्यक्ति के लिए तो अल्प सुख वाले इस मनुष्य लोक की ही प्राप्ति सम्भव नहीं है, फिर परलोक आदि की बात क्या है?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥32॥

32। इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञों की बात वेदों में विस्तार से कही गई है। (वाक्य, मन तथा शारीरिक-कर्म-मूलक होने के कारण) उन्हें 'कर्मजात' (कर्म से उत्पन्न) हुआ जानो। इस प्रकार कर्म-तत्त्व को जान लेने से तुम संसार के बंधन से पूरी तरह मुक्त हो जाओगे।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥33॥

33। हे परन्तप! द्रव्यमय (धन-द्रव्य से किये गए) यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। इस प्रकार हे पार्थ! सब प्रकार के कर्मों की समाप्ति ज्ञान में ही होती है (अर्थात् समस्त कर्मों में चिद्भाव रूपी ज्ञान का उदय होता है)।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥34॥

34। [ज्ञान–अधिकार प्राप्त कर सम्बन्ध–अभिधेय–प्रयोजन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्त्वदर्शी साधुओं के संग की आवश्यकता है, इसलिए] वह ज्ञान तुम तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से प्राप्त करो। उन्हें 'प्रणिपात' अर्थात् दण्डवत् प्रणाम (शरणागति), 'परिप्रश्न' अर्थात् सरलता के साथ सविनय प्रश्न एवं 'सेवा' अर्थात् सेवक की तरह परिचर्या करने पर वे तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश देंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥35॥

35। जिस ज्ञान को प्राप्त कर हे पाण्डव! तुम्हें फिर कभी इस प्रकार का भ्रम (मोह) नहीं होगा; उस ज्ञान का आश्रय कर तुम स्थावर–जंगम सब प्राणियों को चिन्मय आत्मा रूप में देख सकोगे और इसके बाद कार्य रूप से परम कारण मुझ परमात्मा में भी अवस्थित देखोगे।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥36॥

36। यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पापी होओ, तो भी इस ज्ञान रूपी नौका का आश्रय कर तुम भयंकर पाप समुद्र से पार हो जाओगे।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥37॥

37। और फिर जैसे प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों के ढेर को जलाकर भस्म कर डालती है, ऐसे ही यह ज्ञान रूपी अग्नि भी पाप–पुण्य आदि सब कर्मों

को भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥38॥

38। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र या शुद्ध करने वाला निश्चय ही और कुछ भी नहीं है। निष्काम कर्मयोग की सिद्धि से मनुष्य समय आने पर स्वयं उस ज्ञान को अपने हृदय में अनुभव कर लेता है।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥39॥

39। श्रद्धालु व्यक्ति इन्द्रिय-संयम द्वारा निष्काम कर्मयोग में निष्ठ होकर उस ज्ञान को पा लेता है; [उसका लक्षण यह है कि,] ज्ञान प्राप्त होने पर उसे शीघ्र ही संसारनाश-रूपी परम शान्ति प्राप्त होती है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥40॥

40। [किसे ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है, सुनो] अज्ञानी (पशु आदि के समान मूढ़), श्रद्धाहीन और 'संशयात्मा' (संशय में पड़ा हुआ)—ये तीन प्रकार के व्यक्ति महा-अमंगल-रूपी विनाश का आवाहन किया करते हैं। संदेह में पड़े हुए व्यक्ति को इस लोक में और परलोक में सुख कभी प्राप्त नहीं होता।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥41॥

41। [इसलिए सारांश यह है कि,] जिसने निष्काम कर्मयोग के द्वारा सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित कर दिया

है और ज्ञान से जिसके सब संशय मिट चुके हैं एवं फलतः जो आत्मा के स्वरूप से अवगत हो गया है, उसे हे धनञ्जय! कोई कर्म नहीं बाँध सकता।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥42॥

इति 'ज्ञानयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायः।

42। हे भारत! तुम्हारे हृदय में अज्ञान से जो संशय उत्पन्न हुआ है, उसे ज्ञान की तलवार से काटकर निष्काम कर्मयोग का आश्रय करो, और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

इति चतुर्थ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः
कर्मसंन्यासयोगः

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥1॥

1। अर्जुन ने कहा,—हे कृष्ण! आपने पहले कर्मत्याग (अर्थात् योग के द्वारा कर्म का त्याग करने) की प्रशंसा की और फिर कर्मयोग (अर्थात् ज्ञान के द्वारा संशय का छेदन करके युद्ध रूपी कर्म करने) की प्रशंसा की। अतएव आप मुझे वह एक मार्ग बताइए जो इन दोनों में से निश्चय से मंगलकारी है।

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥2॥

2। श्रीभगवान ने कहा,—कर्मत्याग तथा कर्मयोग दोनों ही मंगलकारी हैं। किन्तु कर्मत्याग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है [क्योंकि अशुद्ध चित्त वाले व्यक्तियों के लिए वह सहज तथा प्रमादहीन है]।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥3॥

3। हे महाबाहो! जो व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करता, न ही किसी वस्तु की इच्छा करता है, उस निर्द्वन्द्व पुरुष को [कर्म करते रहने पर भी] सदा संन्यासी ही समझना चाहिए। वह राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित होकर बड़ी आसानी से संसार के कर्म-बंधनों से छूट जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥4॥

4। कम बुद्धि वाले लोग सांख्य (अर्थात् ज्ञानयोग) एवं कर्मयोग को अलग-अलग फल वाला बताते हैं, किन्तु पंडितगण ऐसा नहीं कहते। अतएव [अधिकार के अनुसार] इन दोनों में से किसी एक का यथार्थ रूप से आश्रय करने पर एक ही फल प्राप्त होता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥5॥

5। जो परमधाम ज्ञानयोग से प्राप्त होता है, निष्काम-कर्मयोग से भी वही प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों को जो वास्तव में समान फलदायी देखता है, वही यथार्थदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥6॥

6। निष्काम कर्मयोग के बिना केवल कर्मत्याग रूपी संन्यास, दुःखदायी है। दूसरी ओर, हे महाबाहो! योग-युक्त निष्काम-कर्मी आत्म-मननशील 'मुनि' होकर ब्रह्म की प्राप्ति में अधिक समय नहीं लगता।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥7॥

7। निष्काम कर्मयोगी—'विशुद्धात्मा' (विशुद्ध अन्तःकरण वाला), 'विजितात्मा' (बुद्धि को वश में कर लेने वाला) और जितेन्द्रिय है; अतएव वह सब जीवों का अनुराग-भाजन (अत्यन्त प्रिय) है। इस प्रकार का व्यक्ति

समस्त कर्म करता हुआ भी किसी कर्म में लिप्त नहीं होता।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥8॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्॥9॥

8–9। आत्मतत्त्व को जानने वाला कर्मयोगी मानता है कि 'मैं कुछ भी नहीं करता'; इसीलिए वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास–प्रश्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, पलकों को खोलता या मूँदता हुआ भी यह समझता है कि 'सब इन्द्रियाँ तो शरीर– उपयोगी अपने–अपने विषयों में नियुक्त मात्र हैं'।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥10॥

10। जो फल में आसक्ति को त्यागकर सभी कर्मों को मुझ परमेश्वर में अर्पण करते हुए कर्म करते हैं, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वे भी पाप कार्य से अछूता रहते हैं।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥11॥

11। इसलिए कर्मयोगिगण शरीर से, मन से, बुद्धि से और कभी केवल विशुद्ध इन्द्रियों से भी आसक्ति छोड़कर चित्त की शुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥12॥

12। अतएव जो 'युक्त' (कर्मयोगाश्रयी) है, वह कर्मफल को छोड़कर मोक्ष रूपी परम शांति पाता है, जबकि इसके विपरीत 'अयुक्त' व्यक्ति अर्थात् सकाम-कर्मी कर्मफल में आसक्त होकर कामना के कारण [पाप-पुण्य के] कर्मबंधन में पड़ता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥13॥

13। जितेन्द्रिय व्यक्ति मन के द्वारा सभी कर्मों को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर इस नौ द्वारों वाले शरीर रूपी घर में सुखपूर्वक वास करता है। वह न तो स्वयं कार्य करता है और न ही दूसरों से करवाता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते॥14॥

14। परमेश्वर जीवों के कर्त्तापन एवं कर्म की सृष्टि नहीं करते हैं।कर्मफल का संयोग भी उनके द्वारा नहीं होता है। किन्तु जीवों का स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही उस कर्त्तापन (मैं कर्ता हूँ, इस भाव) आदि का प्रवर्त्तन करती है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥15॥

15। दूसरी ओर ईश्वर न किसी जीव के [अविद्या जनित] पाप को और न ही किसी के पुण्य को ग्रहण करते हैं। किन्तु अविद्या (अज्ञान) से जीवों का स्वरूप-

ज्ञान ढका होने के कारण सब जीव देहात्म–अभिमान में मोहित (भ्रमित) हो जाते हैं। (अर्थात् वे अपने आप को शरीर समझ बैठते हैं और मोहवश 'मैं करने वाला हूँ' इस प्रकार कर्त्ता होने का अभिमान करते हैं।)

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥16॥

16। किन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होकर (अविद्या को नष्ट करते हुए) अप्राकृत परम तत्त्व को प्रकाशित कर देता है।

तबुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥17॥

17। जिनके समस्त अविद्या–रूपी पाप विद्या द्वारा धुल चुके हैं, जिन महात्माओं की बुद्धि, मन और निष्ठा परम–तत्त्व के प्रति एकाग्र हो गयी है, जो उनके श्रवण–कीर्तन परायण हैं, वे जगत में पुनः पुनः जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥18॥

18। वे ज्ञानीगण समदर्शी (सर्वत्र परमात्म–दर्शी) होते हैं; वे क्या विद्या –विनय–संपन्न ब्राह्मण और क्या कुकुर–भोजी चाण्डाल अथवा क्या अन्यान्य प्राणी गाय, हाथी, कुत्ता—सभी में विराजमान परमात्मा का दर्शन करते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥19॥

19। इस जगत में रहते हुए जिनका मन 'साम्य' में अर्थात् समभाव में स्थिर हो जाता है, वे ही संसार को जीत लेते हैं। [यदि पूछो कि, 'सम' क्या है] तो सम का अर्थ है—सर्वदोष रहित ब्रह्म। इसलिए वे व्यक्ति सदा ब्रह्म में ही स्थित हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि ॥20॥

20। [उनका लक्षण यह है कि,] जो प्रिय वस्तु को पाकर हर्ष से प्रफुल्लित नहीं होते और अप्रिय वस्तु को पाकर दुःखी भी नहीं होते, ऐसे स्थिर-बुद्धि वाले तथा मोह-रहित ब्रह्म-ज्ञानी पुरुष ब्रह्म में स्थित हैं।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥21॥

21। बाहरी विषय-वासनाओं में अनासक्त चित्त वाले उस व्यक्ति को आत्मा में सुख (चित्सुख) की प्राप्ति होती है। वह 'ब्रह्मयोगयुक्त' होकर अर्थात् परमात्म-समाधियोग में अक्षय सुख का अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥22॥

22। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो सुख पैदा होता है, वह परिणाम में दुःख का कारण होता है—उस सुख का जिस प्रकार प्रारम्भ है, उसी प्रकार अन्त भी है अर्थात् वह अनित्य (अस्थायी) है। इसलिए हे कौन्तेय! बुद्धिमान् व्यक्ति उसमें रमण नहीं करते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥23॥

23। जो मनुष्य शरीर छूटने से पहले इस जन्म में ही काम और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ हुआ है, वही युक्त अर्थात् यथार्थ योगी है और वही वास्तव में सुखी है।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥24॥

24। जो अन्तर्जगत (अपनी आत्मा) के अनुभव में ही सुखी है, आत्मा में ही रमण करने वाला है, आत्मा में ही दृष्टि–युक्त है, वही वास्तव योगी पुरुष है; वह 'ब्रह्मभूत' (शुद्ध जीव–स्वरूप में अधिष्ठित) व्यक्ति 'ब्रह्म–निर्वाण' रूपी मोक्ष प्राप्त करता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥25॥

25। जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, जिनकी सब दुविधाएँ मिट चुकी हैं, जो आत्मसंयमी हैं और सभी प्राणियों के हित में संलग्न हैं, ऐसे ऋषि 'ब्रह्म–निर्वाण' प्राप्त करते हैं।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्॥26॥

26। जो काम और क्रोध से मुक्त हैं, जिन्होंने मन को वश में कर लिया है, ऐसे आत्मतत्त्व–ज्ञानी संन्यासियों के लिए ब्रह्मनिर्वाण (मुक्ति) स्वयं उपस्थित हो जाता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥27॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥28॥

27–28। [यहाँ ब्रह्म को अनुभव करने का साधन–स्वरूप अष्टांग–योग की कथा का दिग्दर्शन कर रहा हूँ,] शब्द–स्पर्श आदि बाहरी विषयों का चिन्तन त्यागकर, दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में स्थिर करके तथा नासिका में श्वास एवं निःश्वास रूप में घूमने वाले प्राण तथा अपान वायु को सन्तुलित करके जिसने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को वश में कर लिया है और जिसने अपनी इच्छा, भय और क्रोध भी नष्ट कर दिये हैं, ऐसा मोक्ष–परायण मुनि सदा मुक्त (अर्थात् जीवनमुक्त) ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥29॥

इति 'संन्यासयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायः॥

29। [सर्वश्रेष्ठ उपदेश यह है, कि] मैं कर्मियों के 'यज्ञ' तथा ज्ञानियों की 'तपस्या' का भोक्ता हूँ अर्थात् पालक के रूप में उपास्य हूँ; मैं सभी प्राणियों का सुहृद हूँ; मैं ब्रह्म–रुद्र आदि सभी लोकों का महा–नियन्ता हूँ—मुझे इस प्रकार जानकर योगिगण शान्ति (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

इति पञ्चम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः
ध्यानयोगः

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥1॥

1। श्रीभगवान ने कहा,—कर्मफल की अपेक्षा नहीं रखकर जो कर्त्तव्य- विचार से कर्म करता है, वही यथार्थ संन्यासी और योगी है। 'निरग्नि' होने पर ही (अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञ आदि कर्मों का त्याग करने पर ही) कोई संन्यासी नहीं है या 'अक्रिय' होने पर ही (अर्थात् आधे नेत्र बंद करके दैहिक चेष्टा-शून्य होने पर ही) वह योगी नहीं है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥2॥

2। हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहते हैं, उसी को तुम योग समझना, क्योंकि भोग का संकल्प त्याग किये बिना कोई भी मनुष्य योगी नहीं हो सकता।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥3॥

3। योगारुरुक्षु (योग रूपी सीढ़ी पर आरूढ़ होने के इच्छुक) मुनि के लिए 'निष्काम कर्म' ही साधन कहलाता है एवं जिन लोगों ने योग में आरोहण किया है, उन योगारूढ़ियों के साधन को 'शम' (चित्त-विक्षेप-जनक कर्म की निवृत्ति) अर्थात् 'शान्ति' कहा जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥4॥

4। जब वह इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयों में और उन भोगों के उपास्य-स्वरूप कर्मों में आसक्त नहीं होता तथा सब विषयों में आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्याग देता है, तब उसे योगारूढ़ (योगपथ पर आरूढ़) कहा जाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥5॥

5। [विषय-आसक्ति रहित] मन के द्वारा मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं करना चाहिए। [भोग-संकल्प-युक्त होकर] वह अपने आप को संसार सागर में गिरने कभी न दे। क्योंकि मन ही अपना अर्थात् आत्मा का मित्र है, और फिर वही मन ही आत्मा का शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्॥6॥

6। जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसका वह मन ही उसका बन्धु है और अजितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए वह मन ही शत्रु के समान अपकारक के रूप में विद्यमान रहता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥7॥

7। [योगारूढ़ व्यक्ति के गुण—] जिस व्यक्ति ने अपने मन को जीत लिया है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मान-अपमान—सभी अवस्थाओं में प्रशान्त रहता है; इस प्रकार वह आत्म-स्वरूप में समाहित अर्थात् समाधि में स्थित हो जाता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥8॥

8। जो ज्ञान और विज्ञान (अनुभूति-युक्त ज्ञान) से तृप्त है, जो 'कूटस्थ' है (सर्वदा एक चिद् स्वभाव में अवस्थित है अर्थात् जो तत्त्व-ज्ञान की जड़ में पहुँचकर इन्द्रियों को जीत चुका है), जो मिट्टी, पत्थर और सोने को एक-सा ही समझता है—वह 'योगारूढ़' योगी है अर्थात् सिद्ध-अवस्था को पहुँच गया है, ऐसा कहा जाता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥9॥

9। [किन्तु] जो सुहृत् (स्वभाव से हितैषी), मित्र, शत्रु, उदासीन (विवादी पक्षों की उपेक्षा करने वाला), मध्यस्थ (दोनों पक्षों की भलाई चाहने वाला), द्वेष करने योग्य, बन्धु, साधु और पापी—सबके प्रति समान भाव रखता है, वह मनुष्य अतिश्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥10॥

10। [अष्टांग योग में योग-प्रणाली] योगारूढ़ व्यक्ति सदा एकान्त में अकेला बैठकर, मन और इन्द्रियों को वशीभूत करके, जड़ कामना (आशा और भोग सामग्री जुटाने की भावना) से रहित होकर एवं इन्द्रियों द्वारा कुछ ग्रहण नहीं करके लगातार मन को समाधि युक्त करे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥11॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥12॥

11–12। [आसन कैसा होगा, सुनो,] योगाभ्यास करने वाला किसी पवित्र स्थान पर अपने आसन को लगाए। यह आसन न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा हो। इस प्रकार निश्चल भाव से अपना आसन लगाकर इस पर क्रमशः कुशा का आसन, इसके बाद मृगछाल का आसन एवं सबसे ऊपर वस्त्र का आसन बिछाये। उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके, चित्त तथा इन्द्रियों की चेष्टाओं को वश में करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥13॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥14॥

13–14। [शरीर–धारण तथा ध्यान–विधि] शरीर, मस्तक, और गर्दन को एक सीध में बिना हिले–जुले रखकर, इधर–उधर कुछ भी न देखता हुआ अपनी नाक की नोक पर दृष्टि केन्द्रित करे। इस प्रकार निर्भय और शान्त रहता हुआ तथा ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ होकर मन को सभी बाहरी विषयों से हटाकर, चित्त को मुझमें स्थापित करके (अर्थात् मेरे चतुर्भुज–रूप में निविष्ट होकर) तथा मेरे प्रति भक्ति परायण होकर योगाभ्यास करे।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

15। [योग साधन का फल] इस प्रकार योगाभ्यास जारी रखने से अर्थात् सर्वदा मन को मेरे साथ युक्त करते रहने से मुझमें ही उसका मन निश्चल (स्थिर) हो जाता

है; तब उसे मेरे अधीन परम निर्वाण–रूपी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥16॥

16। [योगसाधन के प्रतिकूल] हे अर्जुन! यह योग न अधिक भोजन करने वाले को, न बहुत कम खाने वाले को, न अधिक सोने वाले को और न अधिक जागने वाले व्यक्ति को सिद्ध होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥17॥

17। [योगसाधन के अनुकूल] नियमित आहार–विहार करने वाले, जीवन–निर्वाह के लिए कर्मों में यथावश्यक चेष्टा करने वाले, संतुलित ढंग से सोने और जागने वाले आचणशील व्यक्ति के लिए योग साधना सम्भव है; यह योग उनके सब दुःखों को हर लेता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥18॥

18। जिसका चित्त बाहरी विषयों से सम्पूर्ण रूप में निवृत्त होकर आत्मा में ही (या परमात्मा में ही) भली प्रकार स्थिर हो जाता है तथा सब प्रकार की कामनाओं को त्यागकर निःस्पृह हो जाता है, तब उस पुरुष को 'योगी है', ऐसा कहा जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥19॥

19। वायु–रहित स्थान में दीपक जैसे अचल रहता

है, ठीक वही उपमा मन को वश में करके परमात्मा के ध्यान में रत योगी के लिए दी जाती है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥20॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥21॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥22॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥23॥

20–23। जिस अवस्था में योग के अभ्यास से वश में किया हुआ चित्त जड़ विषयों से विमुख होकर शान्त हो जाता है और आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन कर संतुष्ट रहता है; केवल बुद्धि से समझने योग्य, इन्द्रियों से अगम्य, जो चरम सुख है उसका अनुभव करता है; जिस अवस्था में योगी का चित्त अन्य तत्त्वों से विचलित नहीं होता; जिसे (आत्मसुख को) पा लेने के बाद दूसरा कोई लाभ इससे श्रेष्ठ नहीं लगता; जिस अवस्था में स्थित होने से भारी से भारी दुःख भी विचलित नहीं कर पाता, उसे सब प्रकार के सुख-दुःख के स्पर्श से रहित 'योग' जानना चाहिए। इस योग को धैर्य धारण करते हुए उत्साह भरे मन से निश्चय के साथ करना चाहिए।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥24॥

24। भोग-संकल्प अर्थात् विषयों के चिन्तन से उत्पन्न होने वाली सब विषय-वासनाओं को सम्पूर्ण-रूप से त्यागकर और मन से ही समस्त इन्द्रियों को सब ओर से

संयत करके, साधु–शास्त्र के उपदेश अनुसार योगसाधन करना चाहिए।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥25॥

25। 'धृति' (अर्थात् अष्टांग योग का एक अंग जो 'धारणा' है, उस) से गृहीत बुद्धि अर्थात् धैर्य–युक्त बुद्धि के द्वारा मन को आत्मा में स्थिर करके, आत्मा के अलावा कोई भी विचार मन में न आने दे—इसका धीरे–धीरे अभ्यास करना चाहिए।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥26॥

26। मन स्वभाविक ही चंचल और अस्थिर है; अतः योगसाधन के समय वह जिधर–जिधर भी दौड़े, उधर–उधर से उसे हटाकर केवल आत्मा के ही अधीन कर दे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥27॥

27। [इस प्रकार मन आत्मा के वशीभूत होने से] योगसाधक का चित्त शान्त हो जाता है; चित्त–विक्षेपक रजोगुण दूर होने पर शान्त होता है; तब वह 'अकल्मष' (पाप रहित) होकर ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करता है,— फलस्वरूप उसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥28॥

28। इस प्रकार निरन्तर मन को योग–युक्त करके रखने पर निष्पाप योगी अनायास ही ब्रह्म–साक्षात्कार लाभ

करता है और परम सुख का उपभोग करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥29॥

29। योग-युक्त व्यक्ति सर्वत्र समभाव से देखता है; वह सब प्राणियों में अवस्थित परमात्मा को और उसी प्रकार सब प्राणियों को परमात्मा में देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥30॥

30। जो सब प्राणियों में मुझे देखता है और सब कुछ को मुझमें देखता है—उसके लिए मैं कभी ओझल नहीं होता और न ही वह कभी मेरे लिए अदृश्य होता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥31॥

31। सब जीवों के हृदय में अवस्थित मैं स्वरूपतः एक हूँ—इस प्रकार के विचार में अवस्थित होकर जो मेरा भजन करता है, वह किसी भी अवस्था में स्थित क्यों न रहे, वास्तव में मुझमें ही अवस्थित होता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥32॥

32। हे अर्जुन! जो योगी सभी प्राणियों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुख के समान समझता है (अर्थात् केवल अपना हित नहीं, बल्कि सभी प्राणियों के हित में लगा हुआ है), वही श्रेष्ठ है—यही मेरा मत है।

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥33॥

33। अर्जुन ने कहा,—हे मधुसूदन! आप जिस योग की बात कह रहे हैं, उसमें समबुद्धि के साथ किस प्रकार हमेशा के लिए स्थित हुआ जा सकता है—समझ नहीं पा रहा हूँ, क्योंकि मन बहुत चंचल है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥34॥

34। मन स्वभाव से ही बहुत चंचल होता है, यहाँ तक कि, वह बुद्धि में भी क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ है, इस पर वह बलवान् और दृढ़ है। इसलिए हे कृष्ण! इस प्रकार के मन को नियंत्रित करना मैं वायु को वश में करने के समान ही अत्यन्त कठिन समझता हूँ।

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥35॥

35। श्रीभगवान् ने कहा, हे महावीर! इसमें कोई संदेह नहीं कि, मन चंचल है और सहज वश में होने वाला नहीं है। किन्तु हे कौन्तेय! सर्वदा मेरे साथ योग-साधन का अभ्यास तथा जो उसके प्रतिकूल है उसका त्याग रूपी वैराग्य—एक ही साथ दोनों के अभ्यास से यह मन भी वश में हो जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥36॥

36। अवशीभूत मन वाले व्यक्ति के लिए योग

दुर्लभ है, किन्तु साधन के द्वारा मन को वश में करने का प्रयास करने वाला व्यक्ति इस योग को प्राप्त कर सकता है—यही मेरा विचार है।

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥37॥

37। अर्जुन ने कहा,—[यदि ऐसा हो कि,] कोई व्यक्ति पहले श्रद्धा सहित योगसाधन में प्रवृत्त हुआ हो किन्तु बाद में यत्न (अभ्यास एवं वैराग्य) की शिथिलता के कारण उसका मन योग से भ्रष्ट हो गया हो, उस अवस्था में हे कृष्ण! उस व्यक्ति को योग-सिद्धि नहीं प्राप्त होकर कौनसी गति प्राप्त होगी?।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥38॥

38। हे महाबाहो! ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थिर न हो सकने के कारण, वह मूर्ख कहीं दोनों [सकाम-कर्ममार्ग और योगमार्ग] से भ्रष्ट हो जाने के फलस्वरूप छिन्न-भिन्न हुए मेघों की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥39॥

39। हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूरी तरह से दूर करने में केवल आप ही समर्थ हैं—आपके अलावा कोई दूसरा इस संशय का छेदन करने वाला निश्चय ही नहीं हो सकता।

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥40॥

40। श्रीभगवान् ने कहा,—हे पार्थ! योगभ्रष्ट होने पर भी उस पुरुष का न इस लोक में और न परलोक में नाश होता है; क्योंकि हे वत्स! परम कल्याण प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति की कभी भी दुर्गति नहीं होती।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥41॥

41। [कुछ समय योगाभ्यास करके भ्रष्ट होने पर] योगभ्रष्ट व्यक्ति सकाम पुण्यवान् लोगों को प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करता है एवं वहाँ बहुत वर्षों तक निवास कर वह सदाचारी धनवानों के घर में जन्म ग्रहण करता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥42॥

42। अथवा, [दीर्घकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट होने पर] वह तत्त्वज्ञान-सम्पन्न योगियों के वंश में जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार का जन्म, निःसन्देह इस जगत में बहुत दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥43॥

43। हे कुरुनन्दन! [अब दोनों ही प्रकार से योग-भ्रष्ट व्यक्ति] वहाँ जन्म ग्रहण करके पूर्व जन्म में पाये उस योगसाधन-परक बुद्धि का संयोग प्राप्त करते हैं एवं पहले की अपेक्षा अधिक भाव से सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्न करते हैं।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते॥44॥

44। पूर्वजन्म के उस अभ्यास के कारण किसी विघ्न के उपस्थित होने पर भी वह योगसाधन के प्रति आकृष्ट हो जाता है। 'योग' के विषय में जानने की इच्छा होने पर भी वह वेदों में कथित सकाम-कर्ममार्ग की कथा का अतिक्रमण कर देता है (अर्थात् उस विषय में रुचि के अभाव के कारण जिज्ञासु नहीं होता)।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥45॥

45। अत्यन्त यत्न के साथ अनेक जन्मों तक योग-अभ्यास करके वह योगी सभी दोषों के धुलने पर सिद्धि प्राप्त करता है और अन्त में उत्तम गति रूपी मोक्ष को प्राप्त करता है॥45॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥46॥

46। परमात्मा की उपासना करने वाला योगी पुरुष कष्टदायक साधन करने वाले तपस्वी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञान में पंडित (ब्रह्म के उपासक) से भी वह श्रेष्ठ है। सकाम कर्मियों की अपेक्षा भी योगी श्रेष्ठ है। (अर्थात् तपस्या, ज्ञान या कर्म योगहीन होने पर वह परमार्थ-साधक नहीं होते, इसलिए निरर्थक होते हैं); अतः हे अर्जुन, तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥47॥

इति 'ध्यानयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः॥

47। [भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ हैं—] पुनः सब प्रकार के योगियों में मैं उन्हें ही उत्तम योगी मानता हूँ, जो मुझमें दृढ़ विश्वास युक्त होकर, मुझमें मन को आसक्त करके निरन्तर मेरा भजन करते हैं—यही मेरा मत है।

इति षष्ठ अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः
ज्ञानविज्ञानयोगः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्र मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! मेरे में मन लगाकर और मेरे ही शरणागत होकर भक्तियोग का आचरण करते हुए तुम जिस प्रकार मुझे संशयरहित होकर पूर्ण रूप से जानोगे, उसे श्रवण करो।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥2॥

2। अर्जुन! मैं तुम्हें विज्ञान–समन्वित (माधुर्य–अनुभव सहित) इस ज्ञान का उपदेश दे रहा हूँ, जो [ज्ञान का समग्र–स्वरूप है, अतएव उसे] जान लेने के बाद संसार में कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥3॥

3। [किन्तु इस ज्ञान के पात्र बहुत दुर्लभ हैं, देखो] हज़ारों मनुष्यों में से बहुत कम व्यक्ति आत्म–कल्याण (सिद्धि) के लिए प्रयास करते हैं, और फिर उन प्रयास करने वाले सिद्धों में से भी कोई विरला ही मुझे अर्थात् मेरे भगवत् स्वरूप के तत्त्व को जान पाता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥4॥

4। [अब मेरी विभिन्न शक्तियों के विषय में संक्षेप में श्रवण करो] मेरी 'भिन्न प्रकृति' अर्थात् बहिरंगा-शक्ति (माया-शक्ति)—भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—इन आठ प्रकार के तत्त्वों से युक्त है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥5॥

5। हे महावीर! यह बहिरंगा शक्ति वस्तुतः 'अपरा' (जड़ होने के कारण निकृष्ट) है। इससे अलग मेरी एक और जीवभूता एवं चेतन स्वरूपा 'परा' प्रकृति (तटस्था-शक्ति) है, जान लो—जिसके द्वारा यह जगत धारण होता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥6॥

6। इस जगत में स्थावर-जंगम आदि सभी प्राणियों का कारण मेरी ये दो शक्तियाँ—बहिरंगा 'अपरा' शक्ति तथा जीवभूता 'परा' शक्ति हैं—इस प्रकार जानो। इसलिए मैं ही सारे जगत की उत्पत्ति तथा संहार का मूल कारण हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥7॥

7। हे धनञ्जय! मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ और कोई नहीं है। जिस प्रकार धागे में मणियाँ पिरोयी रहती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व मुझी में ओतप्रोत भाव से अवस्थित है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥8॥

8। [अब मेरे पालन–धर्म की कथा सुनो] हे कौन्तेय! मैं जल का रस हूँ, चन्द्र–सूर्य की प्रभा हूँ; सभी वेदों का मूल जो 'प्रणव' (ॐकार) है, वह मैं हूँ, मैं आकाश का शब्द एवं मनुष्यों का पौरुष (उद्यम) हूँ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥9॥

9। मैं पृथ्वी का पवित्र गंध हूँ, सूर्य का तेज हूँ, सभी प्राणियों का जीवन (आयु) हूँ और तपस्वियों का तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥10॥

10। हे पार्थ! मुझे चराचर सभी प्राणियों के सनातन बीज के रूप में जानो, मैं बुद्धिमानों की बुद्धि तथा तेजस्वियों का तेज हूँ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥11॥

11। हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवान् व्यक्ति का क्रोध, आकांक्षा और तृष्णा रहित बल हूँ। सब प्राणियों में धर्म–सम्मत काम (अर्थात् धर्म के विरुद्ध न जाने वाला 'काम') भी मैं ही हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥12॥

12। और जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव हैं, वे सब मुझसे ही (अर्थात् मेरी बहिरंगा शक्ति से

ही) उत्पन्न हैं। फिर भी मैं उन सब गुणों के अधीन नहीं हूँ, बल्कि वे ही मेरे अधीन हैं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥13॥

13। ये सत्त्व, रजः तथा तमः जो तीन गुण हैं— इनके द्वारा ही यह समग्र जगत् मोहित है। इसलिए इन सब गुणों के अतीत मुझ अविनाशी को जगत्वासी नहीं जान पाते।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥14॥

14। यह अलौकिक, त्रिगुणमयी तथा दुस्तर माया मेरी ही शक्ति है; इसलिए जो एकमात्र मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही इस माया से पार हो सकते हैं।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥15॥

15। मूढ़ (विवेक-शून्य कर्मी), नराधम (मनुष्यों में अधम), माया ने जिनका ज्ञान हर लिया है तथा आसुरिक भाव वाले—ये [चार प्रकार के] दुष्ट लोग मेरे शरणागत नहीं होते (अर्थात् भक्तियोग का सहारा लेकर मेरे तक नहीं पहुँच पाते)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥16॥

16। हे भरतर्षभ! चार प्रकार के सुकृतिशील व्यक्ति मेरा भजन करते हैं— 'आर्त' (अर्थात् दुःख से पीड़ित जैसे गजेन्द्र), 'जिज्ञासु' (आत्मतत्त्व-ज्ञान अर्जन में आग्रही जैसे

शौनक आदि मुनिगण), 'अर्थार्थी' (धन चाहने वाले जैसे ध्रुव) और 'ज्ञानी' (भगवत्-तत्त्व को जानने वाले जैसे शुकदेव आदि)।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥17॥

17। इन सब में 'ज्ञानी' ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वो मेरे साथ नित्य योग-युक्त है; [यदि कहो कि, वह 'योग' किस प्रकार का है] 'एकभक्ति' अर्थात् केवल शुद्ध-भक्ति ही उसका सहारा है; [उसका लक्षण क्या है] उस ज्ञानी को मैं अत्यंत प्रिय होता हूँ, [और उस प्रकार की भक्ति का फल यह है कि,] वो भी मुझे प्रिय होता है।

उदाराः सर्वः एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥18॥

18। ये चारों प्रकार के भक्त ही परम उदार होते हैं, किन्तु इनमें से ज्ञानी व्यक्ति ही मुझे सबसे अधिक प्रिय है—यही मेरा मत है। क्योंकि, वह सर्वोत्तम गति के रूप में केवल मेरा ही आश्रय लेकर मुझ में ही स्थित रहता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥19॥

19। बहुत जन्मों के बाद [शुद्ध भगवत्-ज्ञान प्राप्त होने पर] अर्थात् 'वासुदेव ही सबकुछ हैं' यह अनुभव होने पर जीव ज्ञानवान् होते हैं एवं मुझमें ही शरणागत होते हैं। ऐसे महात्मा (महाभागवत) बहुत दुर्लभ हैं जिन्हें सब ओर सर्वान्तर्यामी श्रीवासुदेव का दर्शन प्राप्त होता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥20॥

20। [दूसरी ओर सकाम देवोपासकों के सम्बन्ध में सुनो] धर्म–अर्थ–काम परायण भिन्न–भिन्न काम–वासनाओं से पागल हुए लोग, भिन्न–भिन्न देवताओं की आराधना के व्रतादि नियमों का पालन करके अपने–अपने स्वभाव के अनुसार उन–उन देवताओं को भजते रहते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥21॥

21। जो–जो देवभक्त जिस–जिस देवता या रूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उसकी उसी श्रद्धा को मैं उसी रूप में अन्तर्यामी स्वरूप से स्थिर कर देता हूँ।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥22॥

22। तब वह भक्त उस श्रद्धा के साथ उस देवता की आराधना करने लगता है। इससे उसको मेरी ही व्यवस्था अनुसार उस देवता से सब कर्मों के फल मिलते हैं।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥23॥

23। किन्तु उस अल्प–बुद्धि वाले देवभक्त को जो फल प्राप्त होता है, वह अनित्य अर्थात् नाश्वान् होता है। देवताओं की पूजा करने वाले, अनित्य देवता को ही प्राप्त होते हैं और मेरे ये चार प्रकार के भक्त सकाम होने पर भी [नित्यफल स्वरूप] मुझे ही प्राप्त होते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥24॥

24। [अल्प बुद्धिमत्ता की बात सुन चुके हो, अब बुद्धिहीनता का परिचय सुनो,] जो लोग समझते हैं कि मैं 'अव्यक्त' या निराकार हूँ, किसी कार्य-वश ही साकार रूप में प्रकट होता हूँ, वे सब बुद्धिहीन हैं। क्योंकि, वे नहीं जानते कि मेरा 'भाव' (अर्थात् सत्ता) माया से परे, नित्य और सर्वोत्तम है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥25॥

25। मैं स्वयं को योगमाया से ढक कर रखता हूँ —सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। इसी कारण अज्ञानी लोग 'अज' (अजन्मा) तथा 'अव्यय' (नित्य) मुझे नहीं जान पाते (अर्थात् मेरे अविनाशी स्वरूप को मातृगर्भ से उत्पन्न समझकर पाँचभौतिक-ज्ञान में नश्वर मानकर भ्रमित हो जाते हैं— जोकि मेरे 'अज' तथा 'अव्यय-धर्म' की अवमानना स्वरूप है)।

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥26॥

26। हे अर्जुन! पहले बीते हुए, वर्तमान और आगे आने वाले सब चराचर प्राणियों को मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥27॥

27। हे भारत! जड़ जगत् की सृष्टि के समय से ही ये सब प्राणी भ्रमित रहते हैं। हे परन्तप! उनकी

अविद्या से पैदा हुए इच्छा (आसक्ति) और द्वेष के जो संस्कार हैं, उनसे ही उत्पन्न मान–अपमान, सुख–दुःख, स्त्री–पुरुष आदि द्वन्द्वों के मोह से सब प्राणी भ्रम में फँसे रहते हैं।

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥28॥

28। [मेरे इस नित्य स्वरूप की अनुभूति का अधिकार कैसे प्राप्त होता है, वह सुनो] किन्तु, जिन सब पवित्र कर्म करने वाले जीवों के पाप नष्ट हो गये हैं, वे उस सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों के मोह से छूटकर दृढ़ निश्चय से मेरा भजन करते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥29॥

29। [अब मेरे मोक्ष चाहने वाले भक्तों की बात सुनो,] जो लोग जरा–मरण से छूटने के उद्देश्य से मेरी शरण में आकर अर्चन–पूजा आदि साधन करते हैं, वे समग्र ब्रह्म–तत्त्व, अध्यात्म–तत्त्व और सारे कर्म–तत्त्व का रहस्य जान लेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥30॥

इति 'विज्ञानयोगो' नाम सप्तमोऽध्यायः॥

30। जो लोग अधिभूत तत्त्व, अधिदैव–तत्त्व और अधियज्ञ–तत्त्व सहित मुझे जानते हैं, उनका मन मुझमें युक्त होने के कारण, अन्त समय भी वे मुझे जान सकते हैं

(अर्थात् वे उस समय भी मृत्यु–यंत्रणा के कारण मुझे नहीं भूलते)।

इति सप्तम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः
अक्षरब्रह्मयोगः

अर्जुन उवाच—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥1॥

1। अर्जुन ने कहा,—हे पुरुषोत्तम! वह 'ब्रह्म' क्या है? 'अध्यात्म' क्या है? 'कर्म' क्या है? 'अधिभूत' और 'अधिदैव' किसे कहते हैं?।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥2॥

2। हे मधुसूदन! 'अधियज्ञ' कौन हैं और इस शरीर में किस प्रकार अवस्थित हैं? इन्द्रियों को वश में करने वाले आत्मसंयमी व्यक्ति अन्त समय में आपको कैसे जान पाते हैं?

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥3॥

3। श्रीभगवान् ने कहा,—अविनश्वर परम तत्त्व-वस्तु ही 'ब्रह्म' है। 'स्वभाव' अर्थात् जीव 'अध्यात्म' कहलाता है। और जीवों की स्थावर-जंगम आदि देह की उत्पत्ति तथा वृद्धि करने वाला जो संसार है, उसे 'कर्म' कहा जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥4॥

4। सभी नाश्वान् पदार्थ—'अधिभूत' हैं; समष्टि-स्वरूप

विराट् पुरुष— देवताओं के अधिपति-रूपी ‘अधिदैव’ हैं; एवं हे नरवर अर्जुन! इस देह में अन्तर्यामी पुरुष के रूप में स्थित—मैं ही ‘अधियज्ञ’ हूँ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥5॥

5। अन्त समय में केवल मेरा ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग कर प्रस्थान करता है, वह मेरे अधीन अप्राकृत भाव (सत्ता) अर्थात् भगवद्‌भाव को ही प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥6॥

6। हे कौन्तेय! जो अन्त समय में जिस भाव तथा रूप को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उसी भाव अर्थात् रूप को ही प्राप्त होता है। सब समय जिस प्रकार की भावना की जाती है, अंतिम समय के स्मरण में वही भाव ही भावित हुआ करता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥7॥

7। इसलिए [हे अर्जुन!] तुम सर्वदा मेरा ही स्मरण करो और अपना स्वधर्म-विहित कार्य अर्थात् अपने क्षत्रिय स्वभाव के अनुरूप इस धर्म-युद्ध को करो। मन तथा बुद्धि मुझमें ही अर्पित रहने पर तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥8॥

8। हे पार्थ! जो चित्त निरन्तर अभ्यास–योग में लगा रहता है तथा अन्य विषयों में भटकता नहीं है, [अन्त समय में] जीव उसी चित्त के द्वारा दिव्य परम पुरुष का निरन्तर चिंतन करते–करते उसी को प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितार–
मणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप–
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥9॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन,
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्,
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥10॥

9–10। [उन परम पुरुष के ध्यान के विषय में बता रहा हूँ, सुनो,] वे सर्वज्ञ, अनादि, सबको नियम में रखने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, सबके विधाता, जड़–बुद्धि से परे उनका रूप, सूर्य के समान तेजस्वी एवं स्वप्रकाशित तथा माया से परे हैं—जो व्यक्ति मृत्यु के समय योगबल से प्राणवायु को दोनों भृकुटियों के बीच में टिकाकर, अचल मन से इस प्रकार के दिव्य पुरुष का भक्ति सहित तथा पूर्व अभ्यासवश अनुक्षण स्मरण करता है, वह उन दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति,
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥11॥

11। वेद को जानने वाले विद्वान जिन्हें 'अक्षर'–स्वरूप (अविनाशी) कहते हैं, संसार के प्रति अनासक्त

संन्यासिगण जिनके लोक में प्रविष्ट होते हैं और जिन्हें प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस प्राप्य वस्तु के संबंध में मैं तुम्हें संक्षेप में बतला रहा हूँ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥12॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥13॥

12-13। मेरी योगधारणा के क्रम में [विषयों में अनासक्ति के द्वारा] इन्द्रियों के सब द्वारों को विषयों से हटाकर और मन को हृदय में निरोध (रोक) कर एवं अपने प्राण को दोनों भृकुटियों के बीच में स्थापित करके जो एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्द—'ॐ' का उच्चारण करता हुआ देह त्याग करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥14॥

14। [किन्तु शुद्ध-भक्त के लिए ऊपर बताया योग का प्रयास आवश्यक नहीं है] हे पार्थ! जो सदा एकाग्र चित्त से निरन्तर मेरा स्मरण करता है (अर्थात् मेरा नाम, रूप, गुण, लीला, परिकर, धाम—ये ही मात्र जिसके प्रत्येक क्षण का ध्यान-ज्ञान हैं, उस प्रकार के नित्य भक्तियोग-युक्त योगी को मेरी प्राप्ति आसानी से हो जाती है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥15॥

15। मुझे पाकर उस महात्मा को पुनः यह दुःखों

से भरा अनित्य जन्म पुनः नहीं ग्रहण करना पड़ता—वह परम सिद्धि (अर्थात् मेरा लीला–परिकरत्व) प्राप्त करता है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥16॥

16। ब्रह्मा के सत्यलोक तक [स्वर्ग आदि] जितने लोक हैं, वहाँ से लौटकर सभी जीवों को ही बार–बार जन्म लेना पड़ता है। किन्तु हे अर्जुन! जो लोग मुझे प्राप्त होते हैं, उनका और पुनर्जन्म नहीं होता।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥17॥

17। [उस पुनर्जन्म का चित्र इस प्रकार है] ब्रह्मा के दिन–रात के तत्त्व को जानने वाले जानते हैं कि ब्रह्मा का एक दिन एक हज़ार महायुगों (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगों) को लेकर होता है और उसी प्रकार एक हज़ार महायुग व्यापी होती है उनकी एक रात्रि।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥18॥

18। ब्रह्मा का दिन आने पर सब कुछ (शरीर, इन्द्रिय, भोग्य, भोगस्थान आदि) उस 'अव्यक्त'–रूपी कारण से व्यक्त (पैदा) होते हैं। और फिर ब्रह्मा की रात्रि आने पर, उसी 'अव्यक्त' नामक कारण में वे सभी लय हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥19॥

19। ब्रह्मा की रात्रि के आने पर लय और दिन

के आने पर उत्पत्ति— इस प्रकार चराचर समस्त प्राणियों का नियम के अधीन होकर बार-बार जन्म और लय (पुनरावर्त्तन) होता रहता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥20॥

20। वह जो 'अव्यक्त' नामक कारण है—उससे भी श्रेष्ठ और एक 'अव्यक्त' है, वह सनातन वस्तु अर्थात् अनादि है—जो समस्त भौतिक पदार्थों के नष्ट होने पर भी विनष्ट नहीं होता।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥21॥

21। [उस सनातन 'अव्यक्त'-तत्त्व का परिचय यह है कि,] जिसे अव्यक्त और 'अक्षर' कहा गया है, उसे ही समस्त जीवों की परम गति कहते हैं। जिसे पाकर जीव पुनः संसार चक्र में नहीं लौटता, वह अव्यक्त ही मेरा परम धाम अर्थात् नित्य स्वरूप है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥22॥

22। हे पार्थ! जिनके भीतर सब प्राणी अवस्थित हैं और जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वे अव्यक्त और 'अक्षर'-स्वरूप परम पुरुष अनन्य-भक्ति से ही प्राप्त होते हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥23॥

23। [किन्तु अनन्य-भक्तिहीन होने पर] जिस 'काल'

में मृत्यु होने पर तथा जिस मार्ग से गमन करके योगियों को संसार में पुनः लौटना पड़ता है या फिर जिस काल में मृत्यु होने से पुनः लौटना नहीं पड़ता, अब मैं उस 'काल' तथा मार्ग के विषय में बतला रहा हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥24॥

24। जो ब्रह्मज्ञानी योगी, ज्योतिर्मयी अग्नि के प्रभाव में, दिन में, शुक्ल पक्ष में या उत्तरायण के छः मास में देह त्याग करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है (अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता)।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते॥25॥

25। जो कर्मयोगी धुएँ, रात्रि, कृष्ण पक्ष में या दक्षिणायन रहने के छह महीनों में देह त्याग करता है वह चन्द्रलोक को जाता है, तथा [भोग समाप्त होने पर] पुनः संसार में लौट आता है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः॥26॥

26। इस प्रकार 'शुक्ल' तथा 'कृष्ण' नाम से जगत की ये दो सनातन गतियाँ अर्थात् मार्ग स्वीकार किए गए हैं। इनमें से शुक्ल मार्ग से गया हुआ व्यक्ति संसार में वापस नहीं आता और कृष्ण मार्ग से गया हुआ व्यक्ति पुनः संसार में लौट आता है।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥27॥

27। [किन्तु] हे पार्थ! मेरा अनन्य भक्त शुक्ल और कृष्ण इन दोनों गतियों के विषय में जानकर मोहित नहीं होता (अर्थात् भक्तियोग का आश्रय करने वाले की इन दोनों मार्गों के प्रति किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती)। इसलिए हे अर्जुन! तुम सदा उस अनन्य भक्तियोग का सहारा लो।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा,
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥28॥

इति 'अक्षरब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।

28। इस तत्त्व को जानकर भक्तिमान् योगी वेदपाठ, यज्ञ, तपस्या तथा दान आदि कर्मों में जो पुण्य फल बताए गये हैं, उन सबसे आगे बढ़ जाता है और मुझ मायातीत आदि पुरुष के परम नित्य धाम को प्राप्त कर लेता है।

इति अष्टम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

नवमोऽध्यायः
राजगुह्ययोगः

श्रीभगवानुवाच—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, चूँकि तुम ईर्ष्या-द्वेष रहित हो, इसीलिए मैं तुम्हें यह परम रहस्यमय ज्ञान तथा अनुभूति बतला रहा हूँ — जिसे जानकर तुम सभी प्रकार के अमंगलों से बच जाओगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥2॥

2। यह ज्ञान 'राजविद्या' है—सब प्रकार की विद्याओं का राजा है, 'राजगुह्य' है—सब प्रकार के गोपनीय-तत्त्वों में श्रेष्ठ, अतीव पवित्र, साक्षात् फल देने वाला, समस्त धर्मसाधक, साधन में सुगम और निर्गुण है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥3॥

3। [अतएव] हे परन्तप! इस धर्म में जिनकी श्रद्धा नहीं है, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस मृत्युपूर्ण संसार-चक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥4॥

4। 'अव्यक्त-मूर्ति' अर्थात् इन्द्रियों से अतीत, मैं, इस समग्र जगत में व्याप्त हूँ। इसलिए चराचर सब प्राणी मुझ

सर्वव्यापक में ही स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥5॥

5। [पुनः] वे सब प्राणी मुझमें भी अवस्थित नहीं हैं। इसे मेरी ऐश्वरिक शक्ति समझो। मेरा मन ही 'भूतभृत्' है अर्थात् सब प्राणियों को धारण करने वाला है तथा भूतभावन' है अर्थात् प्राणियों का पालन करने वाला है, किन्तु ऐसा करते हुए भी मैं 'भूतस्थ'—प्राणियों में स्थित नहीं हूँ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥6॥

6। जैसे सब जगह बहने वाली अपरिसीम वायु सदा आकाश में स्थित रहती है (फिर भी आकाश जैसे वायु से अलग है) वैसे ही उस 'आकाश' के समान मुझमें, सब प्राणी स्थित हैं—इस दृष्टांत के माध्यम से इसे समझने का प्रयास करो।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥7॥

7। 'कल्प'—ब्रह्मा का एक दिन है, उसका अंत होने पर हे कौन्तेय! सब प्राणी मेरी त्रिगुणात्मिका प्रकृति में प्रवेश कर जाते हैं और पुनः उस 'कल्प' का आरम्भ होने पर मैं उनकी सृष्टि करता हूँ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥8॥

8। अपनी प्रकृति के द्वारा ही मैं बार–बार इस प्रकार सृष्टि करता हूँ। ये सब प्राणी 'प्रकृति–वश' (अर्थात् प्राचीन कर्मवासना के वशीभूत) होने के कारण 'अवश'— परतन्त्र हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥9॥

9। और हे धनञ्जय! वे सब [सृजन आदि] कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि उदासीन की भाँति रहते हुए मेरी उन सब कर्मों में आसक्ति नहीं है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥10॥

10। हे कौन्तेय! [मेरी वह उदासीनता कैसी है, सुनो] मेरी अध्यक्षता में अर्थात् दूर से मेरे दृष्टिपात–द्वारा परिचालित होकर ही यह 'प्रकृति' चराचर जगत की सृष्टि करती है। इसी कारण यह संसार बार–बार सृजित तथा विनष्ट होता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥11॥

11। [फिर भी कुछ लोग मेरा जो अनादर करते हैं, उसका कारण है कि] मेरा मानुषी शरीर के आश्रित 'भाव' या सत्ता ही सर्वश्रेष्ठ है, मूर्ख लोग इसे नहीं जान पाते, इसलिए सब प्राणियों का महान ईश्वर होते हुए भी मुझको साधारण मनुष्य मानकर अवज्ञा करते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥12॥

12। [उस अवज्ञा का फल यह है कि,] ऐसे व्यर्थ आशा, निष्फल कर्म और निरर्थक ज्ञान वाले भ्रष्ट चित्त अज्ञानी लोग सदा मोहात्मक राक्षसी (तामसिक) और आसुरी (राजसिक) स्वभाव को ही धारण किये रहते हैं॥ 12॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥13॥

13। [दूसरी ओर] हे पार्थ! दैवी स्वभाव के महात्मागण अनन्य मन से मेरे इस कृष्ण स्वरूप को ही समस्त प्राणियों का आदि तथा अविनाशी जानकर मुझे निरन्तर भजते हैं।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥14॥

14। वे निरन्तर मेरे नाम-रूप-गुण-लीला आदि का कीर्तन करते हैं, जो भक्ति के अनुकूल है उसे स्वीकार और जो भक्ति के प्रतिकूल है उसको त्यागने का यत्न करते हैं तथा दृढ़ता के साथ एकादशी-जन्माष्टमी व्रत आदि पालन करते हुए मुझे नमस्कार और अर्चन-वंदन आदि करते हैं,—इस प्रकार मेरे ध्यान में मग्न होकर भक्ति सहित मेरी उपासना किया करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥15॥

15। फिर कुछ अन्य लोग भी हैं,—जो स्वयं को मुझसे अभेद मानते हैं (अर्थात् अहंग्रहोपासक अपने आपको भगवान् समझने वाले लोग), जो मेरे साथ भेद भावना करते हैं (अर्थात् प्रतीकोपासक—अपने आपको भगवान् से

अलग जानकर, सूर्य और इन्द्र आदि देवताओं को भगवान् की विभूति समझकर उनकी उपासना करने वाले लोग), और जो फिर 'सब कुछ ही विष्णु है' (अर्थात् विश्वरूपोपासक)—इस प्रकार मुझ 'विश्वरूप' की अलग-अलग भाव से ज्ञानयज्ञ द्वारा उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥16॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥17॥
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥18॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥19॥

16-19। [मेरी विश्वरूपता कैसी है, सुनो] हे अर्जुन! मैं अग्निष्टोम आदि 'श्रौत'-यज्ञ हूँ, मैं ही वैश्वदेव आदि स्मार्त्त यज्ञ हूँ, मैं स्वधा (पितरों को दिये जाने वाला श्राद्ध) हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं ही मंत्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही यज्ञ की आहुति हूँ। मैं इस सारे जगत का पिता, माता, धाता (धारक-पोषक) तथा पितामह हूँ, जो कुछ जानने योग्य है वह मैं ही हूँ, पवित्र ॐकार हूँ और ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।

मैं सबकी कर्मफल रूप गति, पति, प्रभु, साक्षी, सबका आश्रय, त्राण करने वाला, हितैषी, सबकी उत्पत्ति और विनाश का कारण, सबका आधार, 'निधान' (पद्म, शंख आदि नामक निधि) और संसार का अविनश्वर बीज अर्थात् कारण मैं ही हूँ। ग्रीष्मकाल में मैं ही ताप प्रदान करता हूँ, वर्षाकाल में मैं ही जल को खींचता हूँ और वर्षा की सृष्टि करता हूँ, मोक्ष और मृत्यु भी मैं ही हूँ,

दिखायी देने वाली स्थूल-वस्तु और अदृश्य सूक्ष्म स्वरूप सब कुछ मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा,
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥20॥

20। [सकाम कर्मियों की गति सुनो] तीनों वेदों में वर्णित सकाम कर्मों को करने वाले, अलग-अलग यज्ञों के द्वारा मेरी (अर्थात् मेरे ही विभूति-स्वरूप इन्द्र आदि देवताओं की) पूजा करके, उन यज्ञों के अवशिष्ट सोमरस को पीकर पापों से मुक्त होकर स्वर्ग में जाना चाहते हैं। वे अपने पुण्यों के फलस्वरूप इन्द्र के पवित्र लोक में पहुँचकर देवताओं के अलौकिक भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना,
गतागतं कामकामा लभन्ते॥21॥

21। वे उस विशाल स्वर्गसुख का उपभोग करने के पश्चात् पुण्य समाप्त होने पर फिर मृत्यु लोक में जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे गए धर्म का जो अनुसरण करते हैं, ऐसे सकाम कर्मों में लगे लोग भोगों की इच्छा के कारण संसार में बार-बार आवागमन करते रहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥22॥

22। [दूसरी ओर] जो सब अनन्य-भजनशील

(निष्काम) व्यक्ति मेरा ही चिंतन करते हुए पूर्ण रूप से मेरी उपासना करते हैं, मुझमें नित्य-आसक्त उन भक्तों का 'योगक्षेम' (आवश्यकताएँ) अर्थात् समस्त अर्थ प्रदान एवं पालनकार्य-भार, मैं स्वयं वहन करता हूँ।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥23॥

23। [यदि पूछो कि, देवताओं की पूजा से मेरी पूजा होती है कि नहीं, तो सुनो,] जो भक्त श्रद्धा से दूसरे देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मूल रूप से मेरी ही उपासना करते हैं; किन्तु हे कौन्तेय! उनकी वह पूजा 'अविधिपूर्वक' होती है अर्थात् उससे उन्हें नित्य फल की प्राप्ति नहीं होती।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥24॥

24। [क्योंकि,] सब यज्ञों का 'भोक्ता' और 'प्रभु' अर्थात् स्वामी मैं ही हूँ। परन्तु वे मुझे तत्त्व की दृष्टि से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं अर्थात् बार-बार संसार में जन्म लेते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥25॥

25। [सब प्रकार की उपासनाओं का एक ही फल नहीं होता, क्योंकि] अन्य-अन्य देवताओं को 'ईश्वर' समझकर जो उनकी पूजा करते हैं, वे अनित्य देवलोक को प्राप्त होते हैं, पितरों की पूजा करने वाले अनित्य पितृलोक को प्राप्त होते हैं, भूतों की पूजा करने वाले अनित्य भूतलोक को प्राप्त होते हैं और मेरी उपासना

करने वाले मेरे नित्य शाश्वत लोक में जाते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥26॥

26। [मेरी उपासना भी अत्यन्त सुखसाध्य है, देखो] जो मुझे भक्ति के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल आदि प्रदान करता है, उस पवित्र आत्मा अर्थात् निष्काम व्यक्ति के द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पण किये हुए वे सब द्रव्य, मैं ग्रहण करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥27॥

27। हे कौन्तेय! तुम [वैदिक और लौकिक] जो भी कर्म करते हो, जो भोजन करते हो, जो यज्ञ करते हो, जो दान करते हो, जो तपस्या अर्थात् व्रत आदि पालन करते हो, उन सबको मेरे अर्पण कर दो।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥28॥

28। इस प्रकार सब कर्मों को मेरे अर्पण करके तुम शुभ-अशुभ फलों वाले कर्म बंधन से छूट जाओगे और मुझमें कर्म अर्पण रूपी जो 'संन्यास योग' है, उसके द्वारा कर्मफल से विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥29॥

29। [यदि कहो कि, भक्त और अभक्त के भेद अनुसार फल प्राप्ति में अन्तर है, तो सुनो] सब प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है—न कोई मेरा प्रिय है, न कोई

अप्रिय। परन्तु [इसमें एक विशेष विधि है कि] जो भक्ति के साथ मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें आसक्त रहता हूँ।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥30॥

30। जो अनन्य भक्ति सहित मेरा भजन करता है, वह यदि [अकस्मात्] अत्यन्त दुराचारी भी हो जाय तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए—क्योंकि भक्तियोग में उसकी बुद्धि का निश्चय ठीक है। [उसका निश्चय ऐसा होता है कि—अपने पापों से मैं भले ही नरक अथवा पशु-पक्षी योनियों में चला जाऊँ, परन्तु ऐकान्तिक कृष्ण भक्ति का कभी भी परित्याग नहीं करूँगा]।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥31॥

31। [इस प्रकार बुद्धि का निश्चय ठीक होने के कारण] वह शीघ्र ही निर्मल आत्मा हो जाता है और उसका चित्त शान्ति प्राप्त कर पुनः क्षोभित नहीं होता। इसलिए हे कौन्तेय! तुम प्रतिज्ञा कर लो कि मेरे भक्त का कभी भी विनाश नहीं होता।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥32॥

32। हे पार्थ! अधम कुल में उत्पन्न स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि भी मेरा आश्रय लेकर निश्चय ही उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। मेरे शुद्ध-भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥33॥

33। [जब ऐसा ही है तो वहाँ] सदाचारी ब्राह्मणों तथा भक्त-राजर्षियों (क्षत्रियों) के संबंध में पुनः और क्या कहना? [अतएव मेरा अकपट उपदेश है कि,] हे अर्जुन! यह जगत अनित्य तथा दुखमय है—इसे समझकर तुम मेरा भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥34॥

इति 'राजगुह्ययोगो' नाम नवमोऽध्यायः।

34। [संक्षेप में उस भजन के सम्बन्ध में बता रहा हूँ, सुनो,] तुम अपने मन को मुझमें समर्पित करो, मेरे प्रति अनन्य भजनशील होओ, मेरी अर्चन में निष्ठावान् होओ एवं मुझे [परमगति समझकर] नमस्कार करो—इस प्रकार अपने आपको (अर्थात् अपने मन और देह को) मुझमें लगाकर मेरे परायण होओ, ऐसा होने पर तुम मुझे ही प्राप्त होओगे।

इति नवम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

दशमोऽध्यायः
विभूतियोगः

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा,—हे महाबाहो! पुनः सुनो, पहले जो कुछ कहा है अब उससे श्रेष्ठ बात बताने जा रहा हूँ—तुम्हारा मुझमें बहुत प्रेम है इसलिए तुम्हारे मंगल की इच्छा से मैं तुम्हें [यह बात] कहता हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः॥2॥

2। मेरे आविर्भाव के तत्त्व को न तो देवता जानते हैं और न महर्षि लोग ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूँ।

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥3॥

3। जो मुझे अजन्मा (जन्मरहित), अनादि और सब लोकों का महेश्वर जानता है, वह मनुष्यों में अज्ञान-मुक्त होकर सब पापों से छूट जाता है।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च॥4॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥5॥

4-5। [मेरे सर्वादित्व तथा सर्वेश्वरत्व के विषय में

सुनो,] सद्बुद्धि, यथार्थ ज्ञान, असंमोह (मोह का नाश), क्षमा (सहिष्णुता), सत्य, दम (इन्द्रियों का संयम), शम (मनःसंयम), सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, यश और अयश आदि जीवों के नाना प्रकार के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥6॥

6। मरीचि आदि सात महर्षि, उनसे भी पहले उत्पन्न सनक आदि चार–ब्रह्मर्षि और स्वायम्भुव आदि प्रमुख चौदह मनु—ये सब मेरी शक्ति से सम्पन्न हैं और मेरे ही मानस–पुत्र हैं। ये सब लोक इनकी ही 'प्रजा' अर्थात् पुत्र–पौत्र आदि या शिष्य–प्रशिष्य परम्परा से परिपूर्ण हैं।

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥7॥

7। जो व्यक्ति मेरी इन विभूतियों और योग को तत्त्व से जानता है, वह अविचल भक्तियोग से मेरे साथ युक्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥8॥

8। मैं [ब्रह्मा–शिव आदि] सारे जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ, मेरे से ही सारा कार्य चलता है, यह जानकर बुद्धिमान् व्यक्ति भक्ति सहित मेरा ही भजन करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥9॥

9। जिन अनन्य भक्तों ने अपने मन और प्राण को मेरे अर्पण कर दिया है वे आपस में मेरी महिमासूचक कथाओं की चर्चा और मेरे नाम–रूप–गुण आदि का कीर्तन करते हुए सदा अपार आनन्द में मग्न रहते हैं, यहाँ तक कि (रागमार्गीय भजन के फलस्वरूप) रमणसुख तक को प्राप्त करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥10॥

10। जो निरन्तर मेरे संग की इच्छा से प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन्हें ऐसा बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लें।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थ ज्ञानदीपेन भास्वता॥11॥

11। उनके ऊपर कृपा करने के लिए मैं उनके अन्तःकरण (बुद्धि) में बैठकर उनके अज्ञान से उत्पन्न अंधकार को ज्ञान के प्रकाशमय दीपक से नष्ट करता हूँ।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥12॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे॥13॥

12–13। अर्जुन ने पूछा,—हे कृष्ण, आप परब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल, वेदव्यास आदि सब देवर्षि आपको नित्य तथा दिव्य पुरुष, आदि देव, अजन्मा और सर्वव्यापक कहते हैं। और [अभी] आप स्वयं भी मुझसे यही कह रहे हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥14॥

14। हे केशव! आप मुझे जो कुछ भी कह रहे हैं, वह मैं सब सत्य मानता हूँ। क्योंकि हे भगवन्! आपके प्रकाश तत्त्व (जन्म) को न देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥15॥

15। हे पुरुषोत्तम! सब प्राणियों को पैदा करने वाले हे भूतभावन! भूतेश! देवों के देव! जगन्नाथ! आप स्वयं ही अपने ज्ञान के द्वारा अपने आप को जानते हैं।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥16॥

16। इसलिए आप स्वयं ही अपनी उन दिव्य विभूतियों का पूरी तरह बखान कर सकते हैं, जिनसे आप इस सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होकर स्थित हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥17॥

17। हे योगेश्वर (योगमाया के अधिपति)! [मुझे बतलाइए कि] मैं किस प्रकार निरन्तर चिंतन करता हुआ आपको जानूँ? और हे भगवन्! किस-किस भाव से आपका स्मरण करना चाहिए।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥18॥

18। हे जर्नादन! आप अपने योग-ऐश्वर्य और

विभूति के विषय में मुझे फिर विस्तार से बताइए—क्योंकि आपके अमृत वचनों को सुनते हुए मेरी तृप्ति ही नहीं हो रही।

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥19॥

19। श्रीभगवान् ने कहा,—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें अपनी मुख्य-मुख्य अलौकिक विभूतियाँ संक्षेप में बताऊँगा—क्योंकि मेरी असंख्य विभूतियाँ का तो कोई अंत ही नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च॥20॥

20। हे गुडाकेश (जितनिद्र)! मैं सब जीवों के हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमात्मा हूँ और जीव मात्र का आदि, मध्य और अंत भी मैं ही हूँ अर्थात् मेरे द्वारा ही उनकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं नक्षत्राणामहं शशी॥21॥

21। बारह आदित्यों में मैं विष्णु (वामन) हूँ, सब ज्योतिर्मय वस्तुओं में मैं किरणमाली सूर्य हूँ। वायु देवों में मैं मरीचि हूँ और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥22॥

22। मैं वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों में चेतना अर्थात् ज्ञानशक्ति हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥23॥

23। मैं रुद्रों में 'शंकर' यक्ष और राक्षसों में कुबेर, अष्ट–वसुओं में अग्नि और पर्वतों में सुमेरु हूँ।

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥24॥

24। हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे जानना। इसी प्रकार मैं सेनापतियों में कार्त्तिकेय और जलाशयों में समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥25॥

25। मैं महर्षियों में भृगु, वाणी में एकाक्षर प्रणव (ॐ), यज्ञों में 'जप' – यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥26॥

26। मैं सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में [कर्दमपुत्र] कपिल मुनि हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्॥27॥

27। मुझे ही घोड़ों में [समुद्र–मंथन के समय प्रकटित] उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, हाथियों में ऐरावत तथा मनुष्यों में राजा जानना।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥28॥

28। मैं शस्त्रों में वज्र, गौओं में 'कामधेनु', सन्तान की उत्पत्ति का मूल कारण कामदेव और [एक मस्तक वाले] सर्पों में [उनका राजा] वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥29॥

29। मैं [अनेक मस्तकों वाले विषहीन] नागों में अनन्त (शेषनाग), जलचर प्राणियों में जलदेवता 'वरुण', पितरों में 'अर्यमा' नामक पितर और दण्ड देने वालों में यमराज हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥30॥

30। मैं दैत्यों में प्रह्लाद, वशीकारियों में काल, पशुओं में सिंह तथा पक्षियों में विनतानन्दन गरुड़ हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥31॥

31। मैं वेगवान् और पवित्रकारी वस्तुओं में पवन, शस्त्रधारियों में परशुराम, मछलियों में मगरमच्छ तथा नदियों में गंगा हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥32॥

32। हे अर्जुन! मैं ही जड़-सृष्टि का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ, समस्त विद्याओं में अध्यात्म-विद्या अर्थात्

आत्मज्ञान हूँ तथा वक्ता के वाद, जल्पना और वितण्डा— इन तीन कथाओं में तत्त्व निर्णय करने वाला 'वाद' हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥33॥

33। मैं अक्षरों में 'अ'-कार, समासों में 'द्वन्द्व' नामक समास, संहार करने वालों में महाकाल रुद्र एवं सृष्टि करने वालों में सर्वमुखी ब्रह्मा हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥34॥

34। मैं हरण करने वालों में सर्व-स्मृति-हर मृत्यु, भावी वस्तुओं में जन्म, स्त्रियों में कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा-रूपिणी सात धर्मपत्नियाँ हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥35॥

35। मैं सामवेदों में इन्द्र-स्तुति रूप बृहत् साम, छंदों में गायत्री, महीनों में मार्गशीष अग्रहायण और ऋतुओं में कुसुमाकर बसन्त ऋतु हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥36॥

36। मैं ही परस्पर छल करने वालों में द्युतक्रीड़ा (जुआ), तेजस्वियों का तेज, विजयी होने वालों में जय तथा बलवानों का बल हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः॥137॥

37। मैं ही वृष्णियों (यादवों) में वसुदेव–पुत्र —'बलराम', पाण्डवों में अर्जुन, मुनियों में वेदव्यास और पण्डितों में 'शुक्राचार्य' नामक पण्डित हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥38॥

38। मैं दमन करने वालों में दण्ड, जीतने की अभिलाषा करने वालों में साम–दाम आदि नीति, गोपनीय कार्यों में मौन तथा ज्ञानियों का ज्ञान हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥39॥

39। [सार बात यह है,] हे अर्जुन! सब प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण अर्थात् बीज रूप से जो कुछ भी है, वह मैं ही हूँ। क्योंकि ऐसी कोई चर–अचर वस्तु नहीं है जिसकी सत्ता मेरे बिना हो।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥40॥

40। हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अंत नहीं है। अपनी विभूतियों का यह विस्तार तो मैंने तुम्हें संक्षेप में कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥41॥

41। जो–जो वस्तु ऐश्वर्य, 'श्री' (सौन्दर्य) या शक्ति युक्त है, उसको तुम मेरे ही तेज के एक अंश से उत्पन्न जानो।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥42॥

इति 'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायः॥

42। अथवा हे अर्जुन! [मेरी विभूतियों के विषय में] तुम्हें इतनी जानकारी की क्या आवश्यकता है? तुम बस इतना जानो कि मैंने इस समग्र जगत को अपने शक्ति के एक अंश मात्र से धारण किया हुआ है।

इति दशम अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

एकादशोऽध्यायः
विश्वरूप-दर्शनयोगः

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥1॥

1। अर्जुन ने कहा,—[हे केशव!] आपने कृपापूर्वक जो 'अध्यात्म' नामक अत्यन्त रहस्यपूर्ण ज्ञान मुझे दिया है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है [और अब मैं समझ गया हूँ कि यह विश्वरूप तो आपके इस कृष्ण स्वरूप का एक अंश मात्र है]।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥2॥

2। हे कमलनयन! आपके द्वारा ही जीवों की सृष्टि और संहार होता है, इसे मैंने विस्तार से सुना और इसके साथ ही आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी।

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥3॥

3। हे परमेश्वर! आपने अपने सम्बन्ध में जैसा वर्णन किया है, यह ठीक वैसा ही है, [इसमें कोई संशय नहीं, फिर भी सबके मंगल के लिए] हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर्यमय रूप का दर्शन करने की इच्छा करता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥4॥

4। हे प्रभु! यदि आप समझते हैं कि मेरे लिए आपके उस रूप का दर्शन करना सम्भव है, तो हे योगेश्वर! अपने उस अविनश्वर योगैश्वर्य (स्वरूप) का मुझे दर्शन कराइए।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥5॥

5। श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! अब तुम मेरे अनेक प्रकार के, अनेक रंगों के और आकारों के सैंकड़ों–हजारों दिव्य रूपों को देखो।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥6॥

6। हे भारत! तुम बारह आदित्यों, आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों, दोनों अश्विनी कुमारों, उन्चास मरुद्गण आदि देवताओं का दर्शन करो; और भी अनेक आश्चर्यमय रूपों का दर्शन करो, जो तुमने पहले कभी न देखे होंगे।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥7॥

7। हे गुडाकेश (जितनिद्र)! मेरे इस देह के अंदर ही एकत्रित सारे चराचर जगत को तुम देख लो। इसके अलावा मन ही मन और भी जो कुछ तुम्हारी देखने की इच्छा हो, उसे भी यहाँ देख लो।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥8॥

8। किन्तु तुम अपने इन जड़ नेत्रों से मेरे इस

विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकते हो। इसलिए मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर रहा हूँ जिससे तुम मेरी ऐश्वरिक योगशक्ति को देख सकोगे।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥9॥

9। संजय ने कहा—हे राजन् (धृतराष्ट्र), ऐसा कहकर महायोगेश्वर श्रीहरि ने अर्जुन को अपने परम ऐश्वर्य–युक्त दिव्य रूप (विश्वरूप) का दर्शन कराया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥10॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥11॥

10–11। [भगवान् के जिस स्वरूप का अर्जुन ने दर्शन किया, उस अद्भुत रूप में] कितने असंख्य मुख और नेत्र थे। अहो! कितने अद्भुत दर्शन, कितने दिव्य अलंकारों से विभूषित, कितने दिव्य अस्त्र–शस्त्र से सुसज्जित, दिव्य माला और वस्त्रों से सुशोभित, दिव्य सुगन्धियों से लिप्त ज्योतिर्मय एवं सब प्रकार के आश्चर्यों से पूर्ण वह रूप चारों ओर मुख विशिष्ट एवं अंतहीन था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥12॥

12। आकाश में हज़ारों सूर्य एक साथ उदय होने से जो प्रकाश होगा, वह भी शायद ही उस महान् विश्वरूप की प्रभा के समान दीख पड़े।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥13॥

13। अर्जुन ने उस समय विविध प्रकार से बँटे हुए निखिल ब्रह्माण्ड को देवादिदेव श्रीभगवान् के इस विराट शरीर में एक जगह एकत्रित देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥14॥

14। इससे आश्चर्यचकित और रोमांचित अर्जुन श्रीभगवान् को नतमस्तक होकर प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर कहने लगा।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥15॥

15। अर्जुन ने कहा,—हे देव! आपके इस शरीर में विराजमान सब देवताओं को, सारे प्राणी समुदाय को, कमल के आसन पर बैठे ब्रह्मा को, शिव को, सब ऋषियों को तथा सब दिव्य सर्पों को भी मैं देख रहा हूँ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥16॥

16। हे विश्वेश्वर! विश्वरूप! आपके असंख्य भुजा, पेट, मुख और नेत्रों से युक्त सर्वव्यापी अनन्त रूप को मैं देख रहा हूँ; किन्तु आपका आदि, मध्य और अन्त मुझे

कहीं दिखाई नहीं देता।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्-
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥17॥

17। [पुनः] आपका यह मुकुट, गदा, चक्र धारण किये तथा सब ओर प्रकाश फैलाता तेज का पुंज स्वरूप मैं देख रहा हूँ—चारों ओर से धधकती अग्नि और देदीप्यमान सूर्य के समान आपकी प्रभा का दर्शन करना बहुत कठिन हो रहा है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥18॥

18। [इस प्रकार हे महामहिम! आपके संबंध में] मेरा यह अभिमत है कि, आप ही मुक्त पुरुषों के जानने योग्य परम अक्षर-तत्त्व परब्रह्म हैं, इस विश्व के अन्तिम आश्रय हैं, सनातन धर्म के रक्षक हैं और अविनाशी सनातन पुरुष हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥19॥

19। मैं देख रहा हूँ कि आपका आदि, मध्य और अंत नहीं है। आपका सामर्थ्य अपार है, असंख्य भुजाएँ हैं, चन्द्र-सूर्य आपके नेत्र हैं, आपका मुख जलती हुई अग्नि

के समान तेजस्वी है और अपने तेज से आप इस सम्पूर्ण विश्व को तपा रहे हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥20॥

20। पृथ्वी तथा स्वर्ग के बीच में अवस्थित सम्पूर्ण अंतरिक्ष में और सब दिशाओं में आप अकेले व्याप्त हैं। हे महात्मन्! आपके इस अद्भुत तथा उग्र रूप को देखकर तीनों लोक भय से काँप रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥21॥

21। वे देवगण शरणागत होकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं; कुछ तो भय से हाथ जोड़े आपका गुणगान कर रहे हैं; महर्षि और सिद्धों के समूह 'विश्व का मंगल हो' इस प्रकार स्वस्तिवाचन कर उत्तम-उत्तम स्तुतियाँ करते हुए आपका दर्शन कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥22॥

22। रुद्र और आदित्यगण, वसु और साध्यगण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनी कुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समूह सब आपको विस्मित

होकर देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥23॥

23। हे महाबाहो! आपका यह विराट् रूप असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य भुजाएँ, जंघा तथा चरण, असंख्य पेट और असंख्य दांतों के कारण भयंकर दीखता है तथा इसे देखकर सभी लोक और मैं स्वयं भय से विह्वल हो रहे हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो॥24॥

24। हे विष्णो! आपका यह गगनचुम्बी रूप तेजस्वी और अनेक विचित्र रूप-रंग वाला है। इसके मुख खुले हैं तथा नेत्र प्रज्ज्वलित एवं विशाल हैं। इस प्रकार आपके दर्शन करके मैं अत्यंत भयभीत हो रहा हूँ, धैर्य धारण नहीं कर पा रहा हूँ और शांति भी नहीं मिल रही है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥25॥

25। आपके विकराल दांतों वाले मुख मानो प्रलय-अग्नि के कुण्ड हैं—इन सबको देखकर मैं दिशाओं का निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ और धैर्य धारण भी नहीं कर

पार रहा हूँ। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥26॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः॥27॥

26–27। [अहो, अब देख रहा हूँ, युद्ध का क्या भीषण परिणाम है!] यह देखो, धृतराष्ट्र के ये पुत्र, साथ में समस्त राजागण, तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं हमारे पक्ष के प्रधान–प्रधान योद्धागण भी आपके विकराल दांतों वाले भयानक मुखगुहाओं में तेज़ी से प्रवेश कर रहे हैं—किसी–किसी का कुचला हुआ मस्तक आपके दाँतों में फँसा हुआ है॥26–27॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥28॥

28। जैसे नदियों की सब भारी जलधाराएँ समुद्र की ओर ही दौड़ती हैं, वैसे ही इस नरलोक के ये सब शूरवीर भी आपके ज्वलंत मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका

स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥29॥

29। [अथवा] जैसे पतंगे मरने के लिए भाग–भागकर जलती हुई अग्नि में जा पड़ते हैं, वैसे ही ये सब नरवीर भी ध्वंस होने के लिए तीव्रता से आपके मुख–गुहाओं में प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता–
ल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥30॥

30। हे विष्णु! आप उन सब लोगों को अपने जलते हुए मुखों से सब तरफ निगलते हुए फिर चाट भी रहे हैं। आपके अंग की तीव्र ज्योति से निकलता हुआ तेज चारों ओर फैलकर समग्र जगत को जलाकर राख कर रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥31॥

31। हे देव, कृपया मुझे बताइए कि ऐसे उग्र रूप वाले आप कौन हैं [अर्थात् क्या आप वही परम स्निग्ध श्रीकृष्ण हैं, अथवा अन्य कोई और हैं]। हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न होवें। मैं विशेष रूप से जानना चाहता हूँ कि आप आदिपुरुष कौन हैं, क्योंकि आपकी इस प्रकार [ध्वंस करने वाली] प्रवृत्ति क्यों है, वह मैं नहीं जानता।

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥32॥

32। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन, मैं सब लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ, इस समय समस्त लोकों का संहार करने के लिए ही प्रवृत्त हुआ हूँ। इन सेनाओं में खड़े ये सारे योद्धा, तुम्हारे युद्ध न करने पर भी जीवित नहीं रहेंगे।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥33॥

33। अतएव तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ, शत्रुओं को जीतकर यश लाभ करो एवं समृद्ध राज्य भोग करो। ये सभी योद्धागण पहले से ही 'काल'–स्वरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। अतः हे सव्यसाची अर्जुन! तुम तो इनको मारने में केवल निमित मात्र बन जाओ।

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥34॥

34। मेरे द्वारा मारे जा चुके द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और दूसरे सभी शूरवीर योद्धाओं का भी तुम वध करो। [ये सब नियम मेरे ही द्वारा बनाए गए हैं, इसलिए] घबराओ मत, युद्ध करो—तुम युद्ध में शत्रुओं पर निश्चय ही विजय प्राप्त करोगे ॥34॥

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥35॥

35। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—भगवान् श्रीकेशव के इन वचनों को सुनकर अर्जुन ने काँपते-काँपते हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया और बड़ा भयभीत होकर पुनः प्रणाम करके गद्‌गद् वाणी से श्रीकृष्ण को फिर कहा।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥36॥

36। (*) अर्जुन ने कहा,—हे हृषीकेश! आपके महिमा-कीर्तन को सुनकर सारा जगत अत्यन्त हर्षित और आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है। फिर दूसरी ओर राक्षस आपसे भयभीत होकर चारों ओर भाग रहे हैं—ये सब उपयुक्त ही है। यह देखकर सनक आदि सारे सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं।

[(*) यह श्लोक मंत्र-शास्त्र में राक्षस-विनाशक मंत्र के रूप में प्रसिद्ध है।]

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥37॥

37। आखिर वे आपको नमस्कार कैसे न करें—क्योंकि हे महात्मन्! आप तो ब्रह्मा के भी आदि–कारण हैं इसलिए उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास! जो सत्–असत् (कार्य–कारण) के भी परे अक्षर–तत्त्व ब्रह्म है, वह आप ही हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण–
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥38॥

38। आप ही आदिदेव और सनातन पुरुष हैं—आप इस विश्व के परम आश्रय हैं। आप ज्ञाता (जानने वाले) और ज्ञेय (जानने योग्य) हैं। आप 'परम–धाम' (जीवों की श्रेष्ठ गति) हैं। हे अनन्तरूप! आपके द्वारा ही यह सारा जगत व्याप्त है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥39॥

39। आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा और उन ब्रह्मा के भी पिता हैं। अतः आपको नमस्कार, हज़ारों बार नमस्कार, पुनः नमस्कार, बारम्बार नमस्कार है।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥40॥

40। हे सर्व! आपको आगे से नमस्कार, पीछे से नमस्कार, सब ओर से नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य! आपका पराक्रम अनन्त है—आप ही समस्त जगत में व्याप्त होकर अवस्थित हैं, इसलिए आप ही 'सर्व' अर्थात् सब कुछ हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥41॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥42॥

41-42। आपकी इस महिमा को न जानते हुए, भूल से या प्रेम के वशीभूत होकर, आपको सखा मानकर, आपको 'हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा' इस प्रकार जो कुछ भी बिना सोचे-समझे कहा हो, और आपके साथ घूमने-फिरने, सोने-बैठने तथा भोजन आदि के समय अकेले अथवा बन्धुओं के समक्ष हास-परिहास में, आपका जो अनादर किया हो, हे अच्युत, उसके लिए मैं आपसे असंख्य बार क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आपके प्रभाव और स्वरूप को कोई पूरी तरह नहीं जान सकता।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥43॥

43। हे अद्वितीय–प्रभावशाली! आप ही इस चराचर जगत् के पिता, पूज्यनीय एवं गुरुओं के गुरु हैं। इन तीनों लोकों में जब आपके समान दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे श्रेष्ठ तो कैसे हो सकता है?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥44॥

44। इसलिए हे प्रभु, भूमि पर लेटकर दण्डवत् प्रणाम करता हुआ मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न होवें। आप सब के वंदनीय परम ईश्वर हैं। हे देव! पिता जिस प्रकार पुत्र के, सखा जिस प्रकार सखा के, प्रिय जिस प्रकार प्रियतमा के अपराध को क्षमा कर देता है, आप भी मेरे अपराधों को उसी प्रकार क्षमा करने में समर्थ हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥45॥

45। हे देव! इसके पहले किसी ने भी आपका यह विश्वरूप नहीं देखा है, इसे देखकर मैं आनन्दित हो रहा हूँ, किन्तु साथ ही इसकी विकरालता को देखकर मेरा मन भय से अत्यंत व्याकुल भी हो रहा हूँ। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मेरे प्रति प्रसन्न होवें। अब आप मुझे अपने उसी [सच्चिदानन्द चतुर्भुज] रूप का ही दर्शन कराइए।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥46॥

46। मैं आपको पहले की तरह मुकुट धारण किये तथा गदा और चक्र हाथ में लिए देखना चाहता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वरूप! आप वही चतुर्भुज रूप ही धारण कीजिए।

श्रीभगवानुवाच—
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥47॥

47। श्रीभगवान् ने कहा,—हे अर्जुन! तुम्हारे प्रति प्रसन्न होकर मैंने अपनी योगमाया के प्रभाव से तुम्हें अपने इस अनन्त तेजोमय विश्वव्यापी रूप का दर्शन कराया है। यह आदिभूत श्रेष्ठ विश्वरूप है—इसे तुम्हारे अलावा किसी दूसरे ने पहले कभी नहीं देखा है।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न
च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥48॥

48। हे कुरुश्रेष्ठ! इस जगत में मेरे इस विश्वरूप को न वेद, यज्ञ और अध्ययन से, न दान, पुण्यकर्म और उग्र तप आदि किसी साधन से ही कोई देख सकता है, जिसका तुमने दर्शन किया है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥49॥

49। मेरे इस भयंकर रूप को देखकर तुम्हें भयभीत या मोहित नहीं होना चाहिए। तुम निर्भय होकर तथा प्रसन्न चित्त से अपना इच्छित मेरे उसी चतुर्भुज–रूप का दर्शन करो।

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥50॥

50। संजय ने कहा—हे राजन्, इस प्रकार कहकर परम कारुणिक श्रीवासुदेव ने अर्जुन को अपना वही पहले का चतुर्भुज रूप फिर दिखाया। और तब उन्होंने अपना द्विभुज शान्त सुन्दर रूप दिखाकर डरे हुए अर्जुन को धीरज बँधाया।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥51॥

51। अर्जुन ने कहा, हे जनार्द्दन! आपके इस सौम्य नराकार रूप का दर्शन करके मैं अब प्रसन्न हो गया हूँ तथा अपनी पूर्व (सामान्य) स्थिति में आ गया हूँ।

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः॥52॥

52। श्रीभगवान् ने कहा, तुम मेरा जो यह नर–आकार रूप देख रहे हो, उसका दर्शन बहुत दुर्लभ हैं। देवता भी सदा मेरे इस रूप का दर्शन पाने के लिए लालायित रहते हैं।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम॥53॥

53। मेरे जिस रूप का तुम दर्शन कर रहे हो, इसका वेद पाठ से, तपस्या से, दान से और यज्ञ आदि के द्वारा भी नहीं दर्शन किया जा सकता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥54॥

54। किन्तु हे परन्तप अर्जुन! मुझ नराकृति परब्रह्म को एकमात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही तत्त्व से जाना, देखा और आश्रय किया जा सकता है [अन्य किसी उपाय से नहीं]।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥55॥

इति 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नाम एकादशोऽध्यायः॥

55। हे पाण्डव! जो केवल मेरे लिए ही सेवा रूप कर्म करता है, मेरे में मन लगाए रहता है, मेरा (श्रवण–कीर्त्तन आदि नवविध भक्ति करने वाला) भक्त है, मेरे अलावा अन्य धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष में आसक्ति रहित है

और सब प्राणियों के प्रति शत्रु भाव रहित है, वह मुझे प्राप्त करता है।

इति एकादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः
भक्तियोगः

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥1॥

1। अर्जुन ने कहा—[हे श्रीकृष्ण!] आपके उपदेश अनुसार जो सब भक्त इस प्रकार अनन्य भक्ति के द्वारा आपके श्मामसुन्दर रूप की उपासना करते हैं, तथा दूसरे जो अव्यक्त (निर्विशेष), अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के योगियों में श्रेष्ठ योगी कौन है?।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥2॥

2। श्रीभगवान् ने कहा,—जो लोग मेरे सच्चिदानन्द-विग्रह में चित्त लगाकर पूरी श्रद्धा के साथ (अर्थात् अनन्य-भक्ति का सहारा लेकर) मेरे साथ नित्य-युक्त होने की इच्छा से मेरी उपासना करते हैं, वे भक्त मेरे विचार में उत्तम योगी हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥3॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥4॥

3-4। किन्तु जो लोग ज्ञानयोग के द्वारा सभी इन्द्रियों को पूरी तरह संयमित करके एवं सब प्राणियों के प्रति समबुद्धि रखते हुए उनके हित में लगे रहते हैं और

मेरे अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ (सर्वकालव्यापी), अचल, ध्रुव (नित्य), निर्विशेष अक्षर ब्रह्म स्वरूप की उपासना करते हैं, वे वास्तव में मुझे (अर्थात् मेरी ही अंगकान्ति परम ज्योति को) प्राप्त होते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥5॥

5। किन्तु उन निर्विशेष ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले व्यक्तियों को साधना में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा निर्विशेष- तत्त्व विषयक निष्ठा कठिनता से प्राप्त होती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥6॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥7॥

6-7। किन्तु जो लोग सब लौकिक-वैदिक कर्मों को मेरे अर्पण करके केवल मेरे में ही मन लगाकर अनन्य भक्तियोग से सब समय मुझ श्यामसुन्दर का ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मेरे में ही चित्त लगाने वाले उन भक्तों को मैं अतिशीघ्र ही मृत्युमय संसार-सागर से पार कर देता हूँ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥8॥

8। [इसलिए] हे अर्जुन, मेरे इस श्यामसुन्दर स्वरूप में ही मन को लगाओ, मेरे में ही बुद्धि को स्थिर करो। ऐसा होने से देहान्त के बाद तुम मेरे निकट ही निवास कर पाओगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥9॥

9। हे धनञ्जय! और यदि तुम चित्त को [सहज अनुराग के अभाव में] स्थिर भाव से मुझमें नहीं लगा सकते हो, तो फिर नियमपूर्वक अभ्यास–योग (अर्थात् प्राकृत रूप–रस आदि से चित्त को बार–बार पीछे खींचकर मेरे नाम–रूप–गुण आदि में ही स्थापन करने की निरंतर चेष्टा) के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयास करो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥10॥

10। यदि तुम ऐसा अभ्यास–योग भी नहीं कर सकते हो तो सब कर्मों को मेरे अर्पण कर दो अर्थात् मेरे सेवा–परायण हो जाओ। इस प्रकार मेरे लिए सभी कर्म (जैसे—मेरी कथा का श्रवण–कीर्तन करना, मेरी पूजा–अर्चन करना, मेरी वन्दना करना, मेरे मंदिर की सफाई करना, मेरे लिए पुष्प चयन करना, मेरे लिए बगीचा बनाना, मेरे लिए रसोई बनाना आदि सेवा कार्य) करके भी तुम सिद्धि प्राप्त कर सकते हो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥11॥

11। और यदि तुम यह भी नहीं कर सकते हो, तो फिर अपने समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करने रूपी जो 'योग' है, उसका आश्रय करते हुए, मन को संयमित करके सब कर्मों के फल का त्याग कर दो।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥12॥

12। [संक्षेप में मुझे प्राप्त करने का जो क्रम है उस मार्ग के विषय में केवल यही कह रहा हूँ कि,] वैधी भक्ति-रूप अभ्यास योग यदि कोई न कर सकता हो तो उसके लिए अभ्यास की अपेक्षा आत्म-साक्षात्कार विषयक ज्ञान-चेष्टा श्रेष्ठ है; उसमें असमर्थ होने पर तो उस ज्ञान की अपेक्षा आत्मचिंता-रूप ध्यान ही श्रेष्ठ है; उस ध्यान में भी असमर्थ होने पर उसकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग (निष्काम कर्मयोग) ही श्रेष्ठ है। सकाम कर्मियों को कर्मफल त्यागने के बाद ही शान्ति प्राप्त होती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥13॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥14॥

13-14। [अब सुनो मेरे भक्तों की गुणावली, जिस कारण से वे मेरे अत्यन्त प्रिय होते हैं,] जो किसी जीव के प्रति द्वेष भाव न रखता हुआ सबके साथ मित्र भाव रखता है तथा 'सभी का मंगल हो' इस प्रकार दया भाव युक्त है, और दूसरी ओर जिसकी पुत्र-कलत्र आदि में ममता नहीं है, निरहंकार (अर्थात् 'मैं-मेरा' बुद्धि रहित) है, सुख-दुःख में एक जैसा रहता है, क्षमाशील है, सदा संतुष्ट है, साधन-भजन में निष्ठावान् है, इन्द्रियों को वश में रखा हुआ है, अनन्य-भक्ति में दृढ़-निश्चयी है और जिसने अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पण कर दिया है—ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥15॥

15। जिसके द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट प्राप्त नहीं होता तथा जो स्वयं भी किसी प्राणी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होते, अतः जड़ीय हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग से जो दूर है, वह मेरा प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥16॥

16। जो व्यवहारिक कार्यों में दूसरे से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता, पवित्र है, दक्ष (शास्त्रों का अर्थ निर्णय करने में निपुण) है, उदासीन (पक्षपात-शून्य) रहता है, उद्वेग-रहित और किसी भी भक्ति-प्रतिकूल विषय के लिए चेष्टा नहीं करता—वह मेरा भक्त है और मुझे अतिशय प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥17॥

17। जो किसी लौकिक लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं करता, न उनकी प्राप्ति होने पर आनन्दित होता है, और न प्राप्ति में बाधा आने पर द्वेष करता है, प्रिय वस्तु के नष्ट होने पर न शोक करता है तथा सब प्रकार के शुभ-अशुभ [कर्मफल] त्याग चुका है, वह भक्त ही मुझे अत्यन्त प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥18॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मोनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥19॥

18-19। जो शत्रु और मित्र में तथा मान और अपमान में एक-सा भाव रखता है, सर्दी और गर्मी में

तथा सुख–दुःख में एक जैसा रहता है, सब प्रकार के दुःसंग से मुक्त है, जो निन्दा और स्तुति को एक समान मानता है, जो भगवान् की चर्चा के अलावा अन्य विषयों में मौन रहता है, जो कुछ भी मिल जाय उसी में संतुष्ट रहता है, जो अनिकेत है (अर्थात् महल में वास या पेड़ के नीचे वास दोनों ही जिसके लिए एक समान है) एवं भगवान् के चरणों में जिसकी बुद्धि सर्वदा स्थिर है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥20॥

इति 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

20। और जो भक्त मेरे परायण होकर मेरे द्वारा ऊपर कहे हुए अमृततुल्य धर्म का श्रद्धा सहित यथायथ आचरण करता है, वह मुझे अत्यधिक प्रिय है।

इति द्वादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः
प्रकृति–पुरुष–विवेकयोगः

अर्जुन उवाच—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव॥1॥

1। अर्जुन ने कहा, हे केशव! मैं प्रकृति–पुरुष, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, ज्ञान–ज्ञेय—इनके विषय में जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥2॥

2। श्रीभगवान् ने कहा, हे कौन्तेय! इस शरीर को 'क्षेत्र' कहा जाता है (अर्थात् शरीर 'आत्मा' नहीं, आत्मा का कार्य–साधक एक क्षेत्र–विशेष है), जो इसे जानता है, उसे ज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥3॥

3। [और फिर] हे भारत! चिद् अचिद् सब क्षेत्रों (शरीरों) में [मूल] 'क्षेत्रज्ञ' भी मुझे ही जानना। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का जो ज्ञान है, उसे ही मैं 'ज्ञान' मानता हूँ।

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥4॥

4। वह क्षेत्र क्या है, कैसा है, किन विकारों वाला है, किन कारणों से व किससे उत्पन्न हुआ है, तथा उस

क्षेत्रज्ञ का स्वरूप क्या है, उसका प्रभाव कैसा है—वह सब तुम मुझसे संक्षेप में श्रवण करो।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥5॥

5। यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व पराशर आदि ऋषियों ने स्मृति शास्त्र में अलग-अलग प्रकार से वर्णित किया है। फिर अलग तरह से विभिन्न वेदों के अन्तर्गत उपनिषदों में और ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) में भी युक्तिपूर्ण सिद्धान्त वाक्यों द्वारा निश्चित किया गया है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥6॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥7॥

6-7। पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), अहंकार, बुद्धि, त्रिगुणमय प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) [ये चौबीस प्राकृत-तत्त्व ही 'क्षेत्र' हैं]; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (पँच-महाभूत का परिणाम रूपी स्थूल शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक लिंगदेह) और धैर्य [ये सभी क्षेत्र के विकार हैं]—इस प्रकार संक्षेप में इन विकारों के साथ क्षेत्र का परिचय कहा गया है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥8॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥9॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।

नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥10॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥11॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥12॥

8–12। [अब जिस ज्ञान को पाकर क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ–तत्त्व को जाना जायेगा, वह सुनो,] अमानित्व (अपने मान–सम्मान की इच्छा न करना), दंभहीनता, अहिंसा, क्षमा (सहिष्णुता), सरलता, गुरु–सेवा, पवित्रता, स्थिरता, मन एवं इन्द्रियों का संयम, इन्द्रियों के विषयों में विरक्ति, अहंकार का अभाव, जन्म–मृत्यु–बुढ़ापा–रोग आदि का बार–बार दुःख और दोष के रूप में चिन्तन करना, स्त्री–पुत्र घर आदि में ममता न होना, दूसरे के सुख–दुःख में आवेश का अभाव, इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा समभाव, अनन्य निष्ठा के साथ मुझमें अचंचला भक्ति, निर्जन स्थान प्रिय लगना, बहिर्मुख लोगों के समुदाय वाले स्थान से अलगाव, सदा आत्म–विषयक ज्ञान की चर्चा, तत्त्वज्ञान के प्रयोजन का अनुसंधान—इन सबको 'ज्ञान' कहा गया है। जो कुछ भी इसके विपरीत है, वह अज्ञान कहलाता है।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥13॥

13। जो 'ज्ञेय' अर्थात् जानने योग्य है और जिसे जानकर मृत्यु को अतिक्रम (अर्थात् मोक्ष प्राप्त) किया जाता है, अब मैं तुम्हें वह बतलाता हूँ। वह वस्तु है —'ब्रह्म', वह अनादि (सनातन) है, मेरे आश्रित तत्त्व है, उसे न 'सत्' कहा जा सकता है और न 'असत्' (अर्थात् वह कार्य–कारण के अतीत है)।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥14॥

14। उस 'ब्रह्म' के हाथ, पैर, नेत्र, मस्तक, मुख और कान सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार परमात्मा जगत की सब वस्तुओं में व्याप्त होकर अवस्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥15॥

15। वह बृहत् तत्त्व सभी इन्द्रियों तथा गुणों का प्रकाशक है, फिर भी समस्त प्राकृत इन्द्रियों से रहित है। वह अनासक्त है फिर भी सबका पालन करता है; वह निर्गुण (प्राकृत गुण-रहित) होते हुए भी अप्राकृत षड़ैश्वर्य-गुणों का स्वामी है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥16॥

16। वह तत्त्व-वस्तु चिद्-अचिद् सब प्राणियों के बाहर और भीतर विद्यमान है; [सभी कारणों का कारण होने के कारण] वह ही इस चर-अचर जगत का कारण है; अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है (अर्थात् उसे स्पष्ट रूप में जाना नहीं जा सकता); वह [अज्ञ व्यक्तियों के लिए] बहुत दूर होते हुए भी [अनन्य भक्तों के लिए] बहुत निकट है।

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥17॥

17। वह पूर्ण व अखण्डित होते हुए भी सब प्राणियों में विभाजित प्रतीत होता है। सब प्राणियों का पालन करने वाला, संहार करने वाला तथा सृष्टि करने

वाला उसे ही जानो।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥18॥

18। वह चन्द्र–सूर्य आदि समस्त ज्योतिर्मय वस्तुओं की भी परम ज्योति अर्थात् प्रकाशस्रोत है; वह अज्ञान से अतीत तत्त्व–वस्तु है; वह [बुद्धि–वृत्ति में व्यक्त होता है, इसीलिए] ज्ञान स्वरूप है, [रूप–गुण आदि–विशिष्ट होने के कारण] ज्ञेय वस्तु (जानने योग्य) है, ज्ञान के साधन द्वारा प्राप्य होने के कारण] ज्ञान से ही देखा–समझा जाता है; वह ही सब के हृदय में विराजमान है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥19॥

19। इस प्रकार 'क्षेत्र', 'ज्ञान' तथा 'ज्ञेय' तत्त्व के विषय में तुम्हें संक्षेप में कहा है। इन सब से भलीभाँति अवगत होकर मेरा भक्त मेरे प्रति प्रेम–भक्ति को प्राप्त करने के योग्य होता है।

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥20॥

20। प्रकृति तथा पुरुष [जीव]—दोनों को ही तुम अनादि (सनातन) जानो। यह भी जान लो कि बद्ध–जीवों के राग–द्वेष आदि सब विकार तथा सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं (अर्थात् वे जीवों के स्वरूपगत तत्त्व नहीं हैं)।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥21॥

21। कार्य (शरीर) तथा कारण (इन्द्रियाँ) इनकी कार्य–प्रेरणा के लिए 'प्रकृति' को ही हेतु या निमित्त कहा जाता है; किन्तु जड़ सुख–दुःख आदि के भोग का कारण 'पुरुष' अर्थात् जीव को ही कहा जाता है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥22॥

22। [वह किस प्रकार है, सुनो,] प्रकृति में अवस्थित होकर ही पुरुष (जीव) प्रकृति के गुणों (अर्थात् सुख–दुःख आदि समस्त विषयों) का भोग करता है। प्रकृति के इन गुणों के प्रति आसक्ति ही उस जीवात्मा के सत्–असत् (अच्छी या बुरी) विभिन्न योनियों में जन्म लेने का कारण बनती है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥23॥

23। इस देह में जीवात्मा से भिन्न अन्य जो एक पुरुष अवस्थित रहते हैं, उन्हें 'महेश्वर' अथवा 'परमात्मा' भी कहा जाता है। [यदि कहो कि, वहाँ उनकी भूमिका क्या है, तो सुनो—] वे वहाँ 'उपद्रष्टा' (सब जीवों के कर्मों के साक्षी), 'अनुमन्ता' (अनुमति देने वाले), भर्त्ता (धारण करने वाले) तथा भोक्ता (पालन करने वाले) हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥24।

24। जो इस प्रणाली से निर्गुण पुरुष (परमात्मा), सगुण माया–प्रकृति तथा जीव–तत्त्व को जान लेता है (अर्थात् विवेक प्राप्त कर आत्म–धर्म में स्थित हो जाता

है), उसे जड़ जगत में सब प्रकार के कर्त्तव्य कर्म पूरे करते हुए भी पुर्नजन्म नहीं लेना पड़ता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥25॥

25। कुछ [विवेकी पुरुष] विशुद्ध चित्त होकर स्वयं ही भगवान् के चिन्तन-रूपी ध्यान के द्वारा अपने हृदय में स्थित उस परम पुरुष का दर्शन कर लेते हैं, कुछ (ज्ञानी) इसे सांख्ययोग के द्वारा, कुछ (योगी) अष्टांगयोग के द्वारा और कुछ निष्काम कर्मयोग के द्वारा परमात्मा को [अपने-अपने अधिकार अनुसार] अनुभव करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥26॥

26। फिर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो इस प्रकार तत्त्व को स्वयं न जानते हुए भी दूसरे आचरणशील व्यक्तियों से सुनकर श्रद्धा सहित परमात्मा की उपासना में लगे रहते हैं। ऐसे श्रवणनिष्ठ (सुनी हुई बात को प्रमाण मानकर चलने वाले) लोग भी क्रमशः मृत्यु रूप संसार को पूरी तरह से पार कर जाते हैं।

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥27॥

27। हे भरतवंश श्रेष्ठ! यह जान लो कि, जगत में स्थावर-जंगम अर्थात् चर-अचर किसी भी प्राणी की सृष्टि, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होती है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥28॥

28। सब विनाशशील स्थावर-जंगम प्राणियों में समभाव से अवस्थित अविनाशी परमेश्वर को जो देखता है, वह ही यथार्थदर्शी है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥29॥

29। वह पुरुष सब प्राणियों में सर्वत्र समभाव से व्याप्त परमेश्वर को देखकर, दुष्ट मन के द्वारा स्वयं को अध:पतित (अर्थात् जीव की सत्ता का पतन) नहीं करता; इसलिए वह परम गति प्राप्त करता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति॥30॥

30। जो इस प्रकार देखता है कि, [जीवों को कर्मफल देने वाले ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर] प्रकृति ही सारे कर्मों को सब प्रकार से सम्पादन करती है और जीवात्मा वस्तुतः कर्त्ता नहीं है, वह ही वास्तवदर्शी है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥31॥

31। जब वह समझ लेता है कि,—स्थावर-जंगमात्मक सभी प्राणियों में जो अलग-अलग आकार तथा भाव हैं, वे सब [प्रलय के समय] एकमात्र प्रकृति में ही निहित रहते हैं एवं [सृष्टि के समय] प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं (वस्तुतः उस प्रकार का अंतर शुद्ध जीवात्म-स्वरूप में नहीं है), तब उस पुरुष को ब्रह्म-भाव प्राप्त होता है (अर्थात् शुद्ध चित्-तत्त्व में निष्ठ होकर वह अचित् जगत के संबंध में निर्लिप्त रहता है)।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥32॥

32। हे कौन्तेय, [ब्रह्मसम्पन्न जीव तब यह देख पाता है कि,] परमात्मा अनादि (परम–कारण) तथा निर्गुण होने के कारण अव्यय (अर्थात् उनके ज्ञान तथा आनन्द आदि का ध्वंस नहीं) है, अतएव वे जड़ शरीर में [जीवात्मा के साथ] रहते हुए भी [बद्ध–जीवों की तरह] कोई कर्म नहीं करते या किसी शारीरिक–धर्म में लिप्त नहीं होते।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥33॥

33। जिस प्रकार सभी पदार्थों में व्याप्त होने पर भी 'आकाश' सूक्ष्म होने के कारण किसी वस्तु में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी शरीरों में अवस्थित होते हुए भी आत्मा देहधर्म में लिप्त नहीं होती।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥34॥

34। हे भारत! जैसे एक ही सूर्य एक स्थान पर स्थित रहकर सारे जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार 'क्षेत्री' (देही) आत्मा भी समस्त क्षेत्र (देह) को प्रकाशित करती है (अर्थात् चेतना सम्पादन करती है)।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥35॥

इति 'प्रकृति–पुरुषविवेकयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

35। इस प्रकार ज्ञान नेत्रों के द्वारा जो पुरुष क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद तथा प्राणियों की प्रकृति के शिकंजे से मुक्ति का उपाय जान लेता है, वह परमपद को प्राप्त होता है।

इति त्रयोदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः
त्रिगुण–विभाग–योगः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन, सभी ज्ञान–साधनों में उत्तम ज्ञान–उपदेश मैं तुम्हें फिर बताता हूँ, जिसे जानकर सारे मुनियों ने इस देहबंधन से परा मुक्ति प्राप्त की है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥2॥

2। इस ज्ञान के आश्रय से उन्होंने मेरा साधर्म्य प्राप्त किया है (अर्थात् मेरे समान अप्राकृत धर्म, अप्राकृत रूप तथा अप्राकृत अवस्था प्राप्त की है)। वे तब सृष्टि के समय पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते, या प्रलयकाल में भी मृत्यु–यंत्रणा के शिकार नहीं होते हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥3॥

3। हे भारत! मेरी 'महत्ब्रह्म'–रूपी प्रकृति ही योनि–स्वरूपा (अर्थात् जन्म का स्रोत) है; उसमें मैं जीव–रूपी बीज आधान करता हूँ एवं उसी से ही समस्त जीवों का जन्म सम्भव होता है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥4॥

4। हे कौन्तेय! आब्रह्म–स्तम्ब समस्त योनियों में जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी 'योनि' (उत्पत्ति–स्थान) 'महत्ब्रह्म'–रूपी प्रकृति है; और मैं उनका बीज–प्रदाता पिता हूँ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥5॥

5। हे महाबाहो! भौतिक प्रकृति से ही उत्पन्न हुए सत्त्व, रजः और तमः—ये तीनों 'गुण' देह में अवस्थित देही जीवात्मा को इस देह में बाँध लेते हैं, किन्तु आत्मा स्वरूपतः अव्यय (निर्विकार) रहती है।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥6॥

6। हे निष्पाप! उक्त तीनों गुणों में से जो 'सत्त्व'–गुण है, वह अन्य दोनों गुणों की अपेक्षा निर्मल होने के कारण प्रकाश प्रदान करने वाला (ज्ञानव्यंजक) और मनुष्यों को दोषों से मुक्त करने वाला अर्थात् शान्त है; वह जीवों को सुख तथा ज्ञान के संग द्वारा (अर्थात् 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ—इस प्रकार के सात्त्विक अभिमान में) बाँधता है।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्॥7॥

7। हे कौन्तेय! रजोगुण को रागात्मक (अर्थात् स्त्री–पुरुष के परस्पर संगाभिलाष–विशिष्ट) के रूप में जानो। यह गुण भोगों की तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है; इसीलिए वह जीवात्मा को कर्म की अभिलाषा (सकाम कर्म) के द्वारा बाँधता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥8॥

8। हे भारत! तमोगुण को किन्तु अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो; वह सभी देही जीवों के लिए मोहकारक (भ्रांति पैदा करने वाला) है; वह प्रमाद (अनमना मन), आलस्य तथा निद्रा द्वारा जीवों को बाँधता है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥9॥

9। हे भारत! [संक्षेप में बात केवल इतनी है कि,] सत्त्वगुण जीवों को सुख (की खोज) से बाँधता है, रजोगुण सकाम कर्म से और तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में ही बाँधता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥10॥

10। हे भारत! कभी-कभी सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण को परास्त करके प्रबल हो जाता है, कभी सत्त्वगुण तथा तमोगुण को दबाकर, रजोगुण प्रबल हो जाता है और कभी ऐसा होता है कि तमोगुण ही सत्त्वगुण तथा रजोगुण को पराभूत कर देता है (अर्थात् तीनों गुणों से बँधे होने पर भी कोई एक गुण ही प्रबल रहता है)। इस प्रकार श्रेष्ठता के लिए निरन्तर स्पर्धा चलती रहती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥11॥

11। [किस समय कौनसा गुण प्रबल है, उसका लक्षण बतला रहा हूँ,] जब इस देह के सब द्वारों में अर्थात कान और सब ज्ञान-इन्द्रियों में ज्ञान का प्रकाश

(अर्थात् वस्तु का यथायथ बोध) हो जाता है और उससे उत्पन्न सुख का अनुभव होता है, तब जानना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि हुई है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥12॥

12। हे भारतर्षभ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ (अधिक धन-वृद्धि की अभिलाषा), सांसारिक चेष्टा, कर्मों का उद्यम, अतृप्ति तथा भोगों की लालसा—ये सब पैदा होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥13॥

13। हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने पर अंधकार (अज्ञान), अप्रवृत्ति (कर्त्तव्य-विमुखता), प्रमाद (अनमना मन) तथा मोह (मिथ्या अभिनिवेश)—ये सब उत्पन्न होते हैं।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥14॥

14। [जीव को किस गुण की प्रबलता से क्या गति प्राप्त होती है, उसे सुनो,] सत्वगुण प्रबल रहने पर जब देही जीव देहत्याग करता है, तब वह हिरण्यगर्भ आदि के उपासकों को प्राप्त होने वाले सुखप्रद लोकों को प्राप्त होता है।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥15॥

15। रजोगुण की प्रबल अवस्था में मृत्यु होने पर जीव, कर्मों में आसक्त (सकाम) मनुष्यों के बीच में जन्म

लेता है और जब कोई तमोगुण में मरता है, तो वह मूढ़ (पशु–पक्षी आदि) योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥16॥

16। सात्त्विक कर्म का फल—निर्मल अर्थात् सुखकर होता है, राजसिक कर्मों का फल—दुःखमय (अल्प सुख के साथ) और तामसिक कर्मों का फल —अज्ञान अर्थात् अचेतनता के रूप में उक्त होता है।

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥17॥

17। सत्त्वगुण से ज्ञान, रजोगुण से लोभ और तमोगुण से प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥18॥

18। सत्त्वगुणी व्यक्ति ऊपर के लोकों में ('सत्य' लोक तक) गति प्राप्त करते हैं, राजसिक व्यक्ति मध्यम लोकों में अर्थात् मनुष्यलोक में अवस्थान करते हैं, एवं निकृष्ट गुण वाले (आलस्य प्रमाद आदि परायण) तामसिक व्यक्ति नरक आदि अधम लोकों में गमन करते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥19॥

19। [अब प्रकृति के इन गुणों से उद्धार प्राप्ति का उपाय सुनो,] जब द्रष्टा जीव अनुभव कर लेता है कि इन तीन गुणों के अलावा कोई दूसरा कर्त्ता नहीं है और जब वह जान लेता है कि, आत्मा वस्तुतः गुणों से परे है, तब

वह 'मद्भाव' (मेरे प्रति शुद्ध-भक्ति) को प्राप्त करता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ 20॥

20। देही जीव, देह की उत्पत्ति के कारण-स्वरूप इन तीनों गुणों को लाँघकर जन्म-मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख से छूटकर 'अमृत' अर्थात् निर्गुण प्रेमानन्द को प्राप्त होता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिंगैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते॥ 21॥

21। अर्जुन ने कहा—प्रभु! तीन गुणों को लाँघने वाले व्यक्ति के क्या लक्षण होते हैं? उसका आचरण कैसा होता है? किन उपायों से वह इन तीनों गुणों के परे जा सकता है?

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥22॥

22। श्रीभगवान् ने कहा,—हे पाण्डव! [पहले गुणातीत व्यक्ति के लक्षण बता रहा हूँ] सत्त्वगुण का कार्य 'प्रकाश', रजोगुण का कार्य 'प्रवृत्ति' तथा तमोगुण का कार्य 'मोह'—इन सबके स्वाभाविक उदय होने पर जो दुःखजनक बुद्धि के द्वारा उनसे द्वेष नहीं करता, या सुख के लिए उनकी निवृत्ति (विनाश) की भी आकांक्षा नहीं करता है [उसे गुणातीत कहा जाता है]।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।

गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेंगते॥23॥

23। [उसका आचरण कैसा होता है, बता रहा हूँ,] जो उदासीन की भाँति रहता हुआ, उक्त त्रिगुणों के कार्यों से विचलित नहीं होता और 'सभी गुण उसके मन व शरीर में अपना-अपना कार्य कर रहे हैं, वस्तुतः आत्मा का गुणों के साथ कोई संबंध नहीं है'—इस विचार में जो प्रतिष्ठित रहता है, और गुणों के कार्य में लिप्त नहीं होता, [वह गुणातीत कहलाता है]।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥24॥

24। जिसके लिए सुख व दुःख एक समान हैं, जो आत्मधर्म में निष्ठ होने के कारण मिट्टी, पत्थर और सोना सबको एकसम देखता है, जिसके लिए प्रिय अथवा अप्रिय में भेद नहीं है तथा जो निन्दा व प्रशंसा को समान समझता है, [वह गुणातीत कहलाता है]।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥25॥

25। जिसके लिए मान-अपमान, मित्र-पक्ष व शत्रु-पक्ष दोनों ही समान हैं एवं जिसने आसक्ति और वैराग्य के सारे अनुष्ठानों को त्याग दिया है (अर्थात् जो केवल भगवद् भक्ति-निर्वाह का अनुष्ठान मात्र करता है), वह गुणातीत कहलाता है।

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥26॥

26। [अब गुणातीत होने का उपाय बता रहा हूँ,] जो अव्यभिचारि- भक्तियोग (अर्थात् ज्ञान-कर्म के

मिश्रणहीन, अनन्य भक्ति) के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह इन सब गुणों को लाँघकर ब्रह्म को अनुभव करने में समर्थ हो जाता है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥27॥

इति 'त्रिगुणविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

27। [उस ब्रह्म का अनुभव कैसा है, उस विषय में सुनो,] मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ, मैं ही अव्यय मोक्ष का आश्रय हूँ, मैं ही नित्यधर्म रूपी प्रेम तथा ऐकान्तिक सुख–रूपी व्रजरस का आश्रय हूँ [इस प्रकार भक्त मुझ परब्रह्म को ही अव्यभिचारि–भक्तियोग के द्वारा अनुभव तथा प्राप्त करते हैं]।

इति चतुर्दश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः
पुरुषोत्तमयोगः

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥1॥

1। श्रीभगवान् ने कहा, यह संसार मानो एक अश्वत्थ (1) वृक्ष स्वरूप है—जिसकी जड़ ऊपर की ओर है (अर्थात् सभी लोकों के ऊपर स्थित सत्यलोक में प्रकृति रूपी बीज से महत्-तत्त्व रूपी जड़) और शाखाएँ नीचे की ओर हैं (अर्थात् सत्यलोक से नीचे की ओर स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोक आदि में व्याप्त शाखाएँ) और यह शाश्वत है (अर्थात् कर्म के आश्रित व्यक्ति के लिए इसका नाश नहीं है); कर्म का प्रतिपादन करने वाले वेद-वाक्य इस वृक्ष के पत्ते कहे गए हैं; जो इस वृक्ष के तत्त्व को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

[(1) अश्वत्थ—'न श्वः स्थास्यति' अर्थात् आने वाले कल में यह नहीं रहेगा।]

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा,
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि,
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥2॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।

2। इस संसार-वृक्ष की कुछ शाखाएँ अधः-मुखी (मृत्युलोक आदि निम्न लोकों की ओर फैली हुई) तथा कुछ शाखाएँ ऊर्द्धव-गामी (देवता आदि उच्च लोकों की

ओर फैली हुई) हैं। ये सभी शाखाएँ प्रकृति के तीनों गुणों से पोषित हो रही हैं एवं जड़ीय विषय–रूपी पत्तों से युक्त हैं। और फिर इस वृक्ष से कर्मवासना–रूपी [जटा समान] जड़ें निम्न मनुष्यलोक में फैली हुई हैं [इसीलिए मनुष्य लोक 'कर्मभूमि' के रूप में प्रसिद्ध है]।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल–
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥3॥
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥4॥

3–4। इस संसार–वृक्ष का यह असली रूप, इस जगत में रहकर [अपने आप] दिखाई नहीं देता। इसके आदि, अन्त तथा आधार का भी कुछ पता नहीं चलता। [साधुसंग के द्वारा इस संसार–वृक्ष का तत्त्व समझकर] स्थिर अनासक्ति की कुठार से गहरी जड़ों वाले इस अश्वत्थ वृक्ष को काटना होगा। फिर ऐसे परम धाम को खोजना होगा जहाँ पहुँचकर पुनः संसार में नहीं लौटना पड़ता। और जिनसे यह अनादि संसार–प्रवाह प्रसारित है उन आदि पुरुष के शरणागत होकर संसार के मूल परमपद श्रीविष्णु की खोज करनी होगी।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै–
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥5॥

5। [उस शरणागति का सहारा लेने वाला व्यक्ति किन लक्षणों से युक्त होकर उस परमतत्त्व को प्राप्त करता

है, वह सुनो,] जिनका मान और मोह (मिथ्या अभिनिवेश) मिट गया है, जिन्होंने आसक्ति रूपी दोष को जीत लिया है, जो सदा नित्य–अनित्य का विचार करते हैं, जिनकी समस्त भोग–वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं, जो सुख–दुःख के द्वन्द्वों (जैसे सर्दी–गर्मी, मान–अपमान आदि) से छूटे हुए हैं, ऐसे विमुक्त तथा मूढ़ता (माया–मुग्धता)–रहित पुरुषगण उस परम धाम को प्राप्त कर सकते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥6॥

6। [वह परम पद या धाम कैसा है, वह सुनो,] जहाँ पहुँचकर शरणागत व्यक्तियों को पुनः संसार में लौटना नहीं होता, वही मेरा परम (षड़्–ऐश्वर्यपूर्ण) 'धाम' है। [ब्रह्माण्ड के अतीत होने के कारण] उसे न सूर्य, न चन्द्र और न ही अग्नि प्रकाशित करते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥7॥

7। [इस अवस्था में जीवों की संसार–दशा कैसे होती है, वह बता रहा हूँ,] यह जीव मेरा ही सनातन विभिन्न अंश है। बद्ध जीवन के कारण ये मन सहित आँख–कान आदि छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहा है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥8॥

8। देह का स्वामी जीव, जब नया शरीर प्राप्त करता है और जब शरीर को त्यागता है, तब मन सहित समस्त इन्द्रियों को वैसे ही साथ लेकर गमन करता है, जैसे किसी पुष्प आदि से वायु गन्ध को ले जाती है।

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥9॥

9। यह जीव—आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा तथा मन का आश्रय करके ही समस्त रूप-रस आदि विषयों का उपभोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥10॥

10। जीवात्मा जिस प्रकार देह त्यागकर जाता है या देह में रहता है अथवा गुणों से युक्त होकर विषय भोग करता है उसको मूर्ख लोग नहीं जान पाते, किन्तु जिनके ज्ञान-नेत्र हैं, वे ही ये सब देख पाते हैं।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥11॥

11। यथार्थ यत्न करने वाले योगी अपने शरीर में रहने वाली इस आत्मा को देख पाते हैं, किन्तु अशुद्ध अन्तःकरण वाले योगी चित्-तत्त्व-ज्ञान के अभाव के कारण, यत्न करके भी उसे नहीं पहचान सकते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥12॥

12। [तथापि संसार में फँसे जीवों के लिए चित् वस्तु की चर्चा कैसे संभव है, सुनो,] सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्र और अग्नि में विराजमान है, उसे मेरा ही तेज समझो।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥13॥

13। पृथ्वी में अधिष्ठित होकर मैं ही अपनी शक्ति से समस्त प्राणी–कुल को धारण करता हूँ, और फिर रसमय चन्द्र–रूप में समस्त औषधियों का पोषण करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥14॥

14। मैं सब प्राणियों के शरीर में जठरस्थ 'वैश्वानर'–नामक अग्नि (जठराग्नि) के रूप में रहता हूँ और 'प्राण' तथा 'अपान' वायु के संयोग से चार प्रकार के अन्न—चर्व्य (चबाये जाने वाले पदार्थ), चोष्य (चूसे जाने वाले पदार्थ), लेह्य (चाटे जाने वाले पदार्थ) तथा पेय (निगले जाने वाले पदार्थ) को पचाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥15॥

15। [और फिर] मैं ही चराचर समस्त प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ। मुझसे ही जीवों की स्मृति तथा ज्ञान का उदय होता है एवं मुझसे ही स्मृति तथा ज्ञान का नाश होता है; मैं ही समस्त वेदों का वेद्य हूँ (अर्थात् समस्त वेद मेरे संबंध में ही कीर्तन करते हैं), मैं ही वेदान्त का कर्त्ता (अर्थात् वेदव्यास के रूप में वेदों का अर्थ–निर्णायक) एवं वेदज्ञ (वेदों के तात्पर्य का ज्ञाता) हूँ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥16॥

16। [अतः संक्षेप में सभी वेदों का सार कह रहा हूँ,] इस जगत में दो प्रकार के पुरुष–तत्त्व विराजमान हैं— क्षर (नाशवान्) एवं अक्षर (अविनाशी); उनमें ब्रह्मा से लेकर तृण तक समस्त प्राणी 'क्षर' (अर्थात् अपने स्वरूप से क्षरित या विच्युत होने योग्य) हैं, और जो अन्य पुरुषतत्त्व—'कूटस्थ' (अर्थात् एक ही अविच्युत स्वरूप में सब समय अवस्थित) हैं, उन्हें 'अक्षर' कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥17॥

17। किन्तु उक्त क्षर तथा अक्षर, दोनों से जो उत्तम (विलक्षण) हैं, उन्हें 'परमात्मा' कहते हैं। वे 'ईश्वर' (नियामक)–रूप में तथा 'अव्यय' (निर्विकार)–भाव से तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका पालन कर रहे हैं।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥18॥

18। क्योंकि मैं 'क्षर'–तत्त्व से परे और 'अक्षर'–तत्त्व से भी श्रेष्ठ हूँ, इसीलिए जगत तथा वेद आदि शास्त्रों में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥19॥

19। हे भारत! [जगत में विभिन्न मतवाद रहने पर भी जो उनके द्वारा] किसी प्रकार से भी मोहित न होकर मुझे ही 'पुरुषोत्तम' के रूप में जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं एवं सभी प्रकार से मेरा ही भजन करते हैं।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥20॥

इति 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

20। हे निष्पाप! [क्योंकि तुम निष्पाप हो इसलिए] इस अति रहस्यमय शास्त्र–तात्पर्य को मैंने तुम्हें बताया है। हे भारत! इसे जानकर जीव शुद्ध–बुद्धि युक्त और कृतार्थ हो जाते हैं।

इति पञ्चदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

षोडशोऽध्यायः
दैवासुर–सम्पद्–विभाग–योगः

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥1॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥2।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥3॥

1–3। श्रीभगवान् ने कहा, [पूर्व वर्णित संसार–वृक्ष के दो प्रकार के फलों में से प्रथमतः संसार–मोचक फल की बात कह रहा हूँ,] हे भारत! दैवी सम्पत्ति लेकर जन्मे व्यक्ति के ये गुण होते हैं—निडरता, शुद्ध सात्त्विक वृत्ति (चित्त की निर्मलता), आत्म–ज्ञान में दृढ़–निष्ठा, दान, दम (बाह्य इन्द्रियों का संयम), यज्ञ, वेदपाठ, तपस्या, आर्जव (सरलता), अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग (सांसारिक

वस्तुओं में ममता का त्याग), शान्ति (मन का संयम), अपैशुन (परनिन्दा न करना), सभी प्राणियों के प्रति दया, लोभ का अभाव, मृदुता, असत् कर्म में लज्जा, अचपलता (व्यर्थ चेष्टाएँ न करना), तेज, क्षमा (सहनशीलता), धैर्य, शुद्धता (बाहर और अन्दर की शुद्धि), द्वेषहीनता तथा अभिमान–शून्यता।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥4॥

4। [अब द्वितीयतः संसार में बाँधने वाले हेय फल के विषय में सुनो,] हे पार्थ! अशुभ क्षणों में जन्मे आसुरी सम्पद् वाले व्यक्ति के ये लक्षण हैं—दम्भ (ख्याति प्राप्ति के लिए धर्म का अनुष्ठान करना), दर्प (धन, विद्या और कुल का गर्व), अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान (कार्य–अकार्य की विवेक–शून्यता)।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥5॥

5। दैवी सम्पदा मुक्ति देने वाली और आसुरी सम्पदा बंधन में डालने वाली मानी गई है। हे पाण्डव! तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम्हें दैवी सम्पदा प्राप्त हुई है, [धर्मयुद्ध में क्षत्रियों की निष्ठुरता आदि आसुरी सम्पदा नहीं है]।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥6॥

6। हे पार्थ! इस जगत में दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के जीवों की सृष्टि होती है। दैवी सम्पदा का वर्णन विस्तार से कर दिया है, अब आसुरी सम्पदा के संबंध में

विस्तार से सुनो।

प्रवृत्तिञ्च निवृतिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥7॥

7। असुर-स्वभाव वाले व्यक्ति धर्म में प्रवृत्ति (रुचि) तथा अधर्म से निवृत्ति का भेद नहीं जानते (अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं समझते); अतः उनमें न शुद्धता रहती है, न सदाचार और न सत्य ही।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम्॥8॥

8। वे कहते हैं कि, यह जगत मिथ्या है, 'अप्रतिष्ठ' (आकाशपुष्प की तरह इसका कोई आधार नहीं) है, 'अनीश्वर' (किसी ईश्वर द्वारा सृष्ट नहीं) है, 'अपरस्पर-सम्भूत' (यह किसी पुरुष तथा प्रकृति के प्रयास से नहीं, अपने आप ही उत्पन्न हुआ) है; तथा इतना ही नहीं—कोई-कोई तो ऐसा कहते हैं कि, जगत् 'काममूलक' (काम अर्थात् स्वेच्छा ही इसका कारण) है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥9॥

9। इस [नास्तिक्य] दर्शन अर्थात् सिद्धान्त को अवलम्बन करके वे सब आत्म-तत्त्वहीन, मन्द-बुद्धि और उग्रकर्मा (हिंसक कर्म करने वाले), अमंगल- स्वरूप असुरगण जगत का नाश करने के लिए ही जन्म लिया करते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥10॥

10। कभी तृप्त न होने वाले काम के सहारे वे दम्भ, अभिमान और मद में उन्मत्त होते हैं और मोहवश असत् विषयों में आग्रही होकर भ्रष्ट आचरणों के द्वारा तुच्छ देवताओं की आराधना में लगे रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥11॥

11। 'काम का उपभोग ही चरम लक्ष्य है'—वे इस प्रकार निश्चय करके मृत्यु तक उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही अनगिनत चिंताओं का आश्रय करते रहते हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थन्यायेनार्थसञ्चयान्॥12॥

12। काम-क्रोध के शिकार वे व्यक्ति सैंकड़ों आशाओं के जाल में बुरी तरह जकड़कर भोग-वासना के लिए अन्याय से धन बटोरने की चेष्टा करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥13॥

13। वे ऐसा सोचते हैं कि 'आज मुझे यह प्राप्त हुआ, कल मैं वह मनोरथ भी पूर्ण कर लूँगा; अभी इतना धन मेरे पास है, आगे वह और भी मेरा हो जायगा'।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥14॥

14। 'इस शत्रु को आज मैंने मार लिया, बाकी सब का भी शीघ्र विनाश करूँगा; मैं ईश्वर (प्रभु) हूँ, भोक्ता हूँ (अर्थात् मैंने समस्त भोगों को अपने अधीन कर लिया है), सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ'।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥15॥

15। 'मैं धनी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा'—इस प्रकार के अज्ञान से वे मोहित रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥16॥

16। वे [सैंकड़ों आशाओं में फँसे होने के कारण] अनेक कल्पनाओं से भ्रमित, मोह जाल में जकड़े और विषय भोगों में आसक्त होते हैं, इसलिए जघन्य नरकों में पतित होते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥17॥

17। अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले, अनम्र, धन और यश के मद में चूर लोग, शास्त्र विधि को छोड़कर नाममात्र के लिए बड़े ही गर्व के साथ यज्ञ करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥18॥

18। अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोध के आश्रित होकर वे साधु-सज्जन वृन्द के गुणों की निन्दा करते हैं और इस प्रकार अपने एवं दूसरों के शरीर में अन्तर्यामी रूप में अवस्थित मुझ परमेश्वर के साथ द्वेष करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥19॥

19। उन विद्वेषी, क्रूर-स्वभाव वाले, अमंगल स्वरूप नीच व्यक्तियों को मैं बारम्बार संसार की आसुरी (म्लेच्छ-व्याध आदि) योनियों में ही पटकता रहता हूँ।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥20॥

20। हे कौन्तेय! वे मूढ़ लोग अनेक जन्मों तक आसुरी योनियों को प्राप्त करते हैं एवं मुझको प्राप्त नहीं कर पाने के कारण ही वे क्रमशः पहले से भी अधिक अधम गति (कुत्ते-सियार आदि की योनि को) प्राप्त करते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥21॥

21। [उससे उद्धार का उपाय बता रहा हूँ,] काम, क्रोध तथा लोभ—ये नरक के तीन द्वार हैं। ये आत्म-धर्म का नाश कर देते हैं इसलिए इन तीनों का ही परित्याग करना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥22॥

22। हे कौन्तेय! नरक के इन तीनों द्वारों से विमुक्त होकर व्यक्ति को आत्मा के श्रेयः (नित्य मंगल के लिए) आचरण करना चाहिए; इसी से उसे परम गति प्राप्त होगी।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥23॥

23। जो व्यक्ति शास्त्र-विधियों का उल्लंघन कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे सिद्धि, सुख या परम गति—कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥24॥

इति 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः॥

24। इसलिए क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य, तुम्हारे लिए इस विषय में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हैं; शास्त्रीय विधियों में जिसे 'कर्म' कहा गया है (अर्थात् शास्त्र-विधि यह है कि, 'कर्म वही है जो भगवान् श्रीहरि की संतुष्टि विधान करे'), उसे समझकर ही तुम्हें यथाविधि कर्म करना चाहिए।

इति षोडश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः
श्रद्धात्रयविभागयोग

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥1॥

1। अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! जो व्यक्ति शास्त्र की विधि का उल्लंघन करता है, किन्तु लोकाचार–जनित श्रद्धा के साथ देवताओं की पूजा करता है, उसकी निष्ठा कौनसी है—सात्त्विक, राजसिक या तामसिक?

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥2॥

2। श्रीभगवान् ने कहा,—स्वभाव (पूर्व जन्मों के संस्कार) के आधार पर जीवों की श्रद्धा उत्पन्न (*) होती है; वह सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी भेद से तीन प्रकार की होती है। अब इसके विषय में मुझसे सुनो।

(*) यहाँ साधुसंग होने से पहले जीव के पूर्व संस्कारों के अनुरूप उत्पन्न श्रद्धा की बात ही कही गयी है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥3॥

3। हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने–अपने 'सत्त्व' अर्थात् अन्तःकरण के अनुरूप होती है। सभी जीव श्रद्धामय हैं (अर्थात् हरेक की किसी न किसी वस्तु के प्रति श्रद्धा होती है)। इसलिए [समझना होगा] कि जिसकी

जैसी श्रद्धा होती है, उसका अन्तःकरण भी उसी प्रकार का हो जाता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥4॥

4। सात्त्विक व्यक्ति सात्त्विक प्रकृति के देवताओं (जैसे ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि) की पूजा करते हैं, राजसिक व्यक्ति राजसी प्रकृति के यक्ष और राक्षसों की एवं अन्य तामसिक व्यक्ति तामसी प्रकृत्ति के भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥5॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥6॥

5-6। जो लोग दंभ और अहंकार से युक्त हैं, काम, आसक्ति और बल (तपोबल के अभिमान) से युक्त हैं एवं अविवेकी हैं, वे शास्त्र-विधि का उल्लंघन कर घोर तपस्या करते हैं। इससे शरीर में स्थित पंचभूतों को [व्यर्थ के उपवास आदि द्वारा या यज्ञ में अपने शरीर का मांस अर्पण कर] तथा अंतःकरण में स्थित मुझे [अवज्ञा द्वारा] वे कष्ट पहुँचाते हैं। उन्हें तुम आसुरिक निष्ठा में अवस्थित जानो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥7॥

7। जिस प्रकार सबका आहार भी प्रीति के विचार अनुसार तीन प्रकार का होता है; उसी प्रकार यज्ञ, तपस्या तथा दान भी तीन प्रकार के होते हैं—उन सबके इस भेद

को श्रवण करो।

आयुः सत्त्व-बलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥8॥

8। जो सब आहार आयु, सात्त्विक वृत्ति (चित्त का धैर्य), बल, आरोग्य, सुख तथा प्रीति (अभिरुचि) को बढ़ाते हैं एवं जो रसीले, स्निग्ध (स्नेहयुक्त), स्थिर (सारयुक्त), हृद्य (हृदय और उदर के लिए हितकर) हैं—वे सात्त्विक प्रकृति वाले व्यक्तियों को प्रिय [अतः पवित्र] होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥9॥

9। अधिक कड़वे, खट्टे, बहुत नमकीन, बहुत गरम, बहुत तीखे (मिर्ची आदि वाले), रूखे (हिंग आदि युक्त) और दाहकारक (पेट को जलाने वाले जैसे पिसी सरसों आदि युक्त) जो सब आहार दुःख, शोक एवं रोग का कारण होते हैं, वे राजसिक व्यक्तियों को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥10॥

10। जो खाद्य रंधन के बाद एक प्रहर (तीन घण्टों) से पहले का बना हुआ है, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा (अर्थात् सदाचारहीन व्यक्ति के भोजन का अवशिष्ट) तथा अपवित्र (अर्थात् मद्य-मांस आदि) है, वह तामसिक व्यक्तियों को प्रिय होता है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥11॥

11। [अब यज्ञ कितने प्रकार के होते हैं, वह

सुनो,] 'शास्त्र-विहित होने के कारण यज्ञ अवश्य करना चाहिए'—इस प्रकार केवल कर्त्तव्य मानकर, फल की इच्छा के बिना, मन को दृढ़ करके, शास्त्र-विधि के अनुसार किया गया यज्ञ, सात्त्विक होता है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥12॥

12। हे भरतश्रेष्ठ! किन्तु जो यज्ञ फल प्राप्ति के उद्देश्य से तथा दम्भ व्यक्त करने (अर्थात् ख्याति प्राप्ति) के लिए किया जाता है, उसे राजसिक जानो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥13॥

13। जो यज्ञ शास्त्र की विधि के विरुद्ध, अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के (स्वर तथा वर्णहीन मंत्र सहित), बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किया जाता है, उसे पण्डितगण तामसिक यज्ञ कहते हैं।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥14॥

14। [अब तपस्या कितने प्रकार की होती है, वह सुनो,] देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा प्राज्ञ (विद्वान) व्यक्तियों की पूजा, शौच (पवित्रता), आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा—इन सबको शारीरिक तपस्या कहते हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥15॥

15। उद्वेग नहीं देने वाले, सत्य, प्रिय तथा हितकर वाक्यों का प्रयोग, वेद-अध्ययन तथा उनका अभ्यास—इन

सबको वाणी का तप कहा गया है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥16॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तः सात्त्विकं परिचक्षते॥17॥

17। फल की इच्छा न रखकर परम श्रद्धा के साथ एकाग्र-चित्त से मनुष्यों द्वारा उक्त तीनों प्रकार की तपस्या को पण्डितगण सात्त्विक तपस्या कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥18॥

18। जो तपस्या सत्कार, यश तथा पूजा-प्राप्ति के लिए दम्भ से की जाती है, उस अनित्य और अस्थिर तप को राजसिक कहा जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥19॥

19। जो तपस्या मूढ़ आग्रह से अपने शरीर और मन को कष्ट देकर या दूसरों को सताने के लिए की जाती है, उसे तामसिक कहा जाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥20॥

20। [अब दान कितने प्रकार के होते हैं, वह सुनो] उपयुक्त स्थान में, उचित समय पर तथा योग्य पात्र को दान देना कर्त्तव्य है—इस प्रकार विचार करके प्रतिदान-प्राप्त करने की आशा न रखकर जो दान दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥21॥

21। किन्तु प्रत्युपकार प्राप्त करने के लिए या स्वर्ग आदि फल प्राप्ति के उद्देश्य से जो दान दिया जाता है या पछतावे के साथ जो दान दिया जाता है, उसे राजसिक दान कहा गया।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥22॥

22। अनुचित स्थान पर, अनुचित समय में तथा अयोग्य पात्र को जो दान दिया जाता है, पुनः [सत्पात्र को भी] यथायोग्य सत्कार न कर तथा अवज्ञा के साथ जो दान दिया जाता है, उसे तामसिक कहा गया है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥23॥

23। [अब भगवान् विष्णु के नामों के साथ यज्ञ आदि अनुष्ठान के विषय में बता रहा हूँ—] 'ॐ', 'तत्', 'सत्'—ये तीन प्रकार के ब्रह्मनिर्देशक नाम शास्त्रों में कथित हैं; प्राचीनकाल में [चतुर्मुख ब्रह्मा के द्वारा] इन तीन नामों से ब्राह्मण, वेद एवं यज्ञ प्रकटित हुए हैं।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥24॥

24। इसलिए ब्रह्मवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान तथा तपस्या आदि क्रियाएँ 'ॐ'—शब्द के उच्चारण से सर्वदा अनुष्ठित हुआ करती हैं।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः॥25॥

25। मुक्ति चाहने वाले लोग फल की इच्छा त्यागकर यज्ञ, तपस्या तथा दान आदि विभिन्न क्रियाएँ 'तत्'–शब्द का उच्चारण करते हुए किया करते हैं।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥26॥

26। हे पार्थ! सद्भाव में (अर्थात् ब्रह्म में) तथा साधुभाव में (ब्रह्मज्ञ व्यक्ति में) 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है; उसी प्रकार मांगलिक कार्यों में भी ब्रह्मवाचक 'सत्'–शब्द का प्रयोग होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥27॥

27। यज्ञ, तपस्या, दान और इनके लिए निष्ठापूर्वक अवस्थान में भी 'सत्' शब्द का व्यवहार होता है एवं जो सब कर्म भगवत्–उद्देश्य से सम्पन्न किये जाते हैं, 'सत्'–शब्द द्वारा अभिहित होते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥28॥

इति 'श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

28। हे पार्थ! यज्ञ, दान, तपस्या या अन्यान्य जो सब कर्म अश्रद्धा के साथ किये जाते हैं, वे 'असत्' कहलाते हैं। वे न तो इस लोक में और न ही परलोक में फलप्रद होते हैं।

इति सप्तदश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त

अष्टादशोऽध्यायः
मोक्षयोगः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥1॥

1। अर्जुन ने कहा,—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिसूदन! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व अलग-अलग रूप से जानना चाहता है।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥2॥

2। श्रीभगवान् ने कहा,—समस्त काम्य-कर्मों के त्याग को पण्डितगण 'संन्यास' के रूप में जानते हैं एवं समस्त नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य-कर्मों के फल के त्याग को विचक्षणगण (निपुण व्यक्ति) 'त्याग' कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥3॥

3। कुछ मनीषि यह कहते हैं कि,—सारे ही कर्म दोषयुक्त होने के कारण त्यागने योग्य हैं; दूसरे कहते हैं कि—यज्ञ, दान और तपस्या आदि कर्म [वेद -विहित होने के कारण] त्याज्य नहीं हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः॥4॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥5॥

5। यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, बल्कि इन्हें करना ही चाहिए—क्योंकि यज्ञ, दान, तपस्या बुद्धिमान व्यक्तियों के चित्त को अवश्य ही शुद्ध करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥6॥

6। [वे किस प्रकार से चित्त शुद्धिकारक हैं, सुनो,] किन्तु आसक्ति (कर्त्तापन का अभिमान) एवं फलकामना से रहित होकर, [केवल ईश्वर– आराधना की बुद्धि को लेकर] इन सब कर्मों को करना कर्त्तव्य है—हे पार्थ! यह ही मेरा निश्चित तथा उत्तम मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः॥7॥

7। [अब उन तीन प्रकार के त्याग की बात कह रहा हूँ,] नित्य–कर्म का त्याग उचित नहीं है, किन्तु मोह से किया गया उनका त्याग 'तामसिक' के रूप में कथित होता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥8॥

8। कर्म केवल दुःखप्रद हैं—जो यह सोचकर शारीरिक क्लेश के भय से नित्यकर्म का त्याग करता है, उस 'राजसिक त्याग' के द्वारा वह निश्चय ही त्याग के फल—[ज्ञान–निष्ठा] को प्राप्त नहीं करता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥9।

9। हे अर्जुन! आसक्ति तथा फलकामना को त्यागकर केवल कर्त्तव्य के विचार से जो नित्यकर्म किया जाता है, वह 'सात्त्विक त्याग' है, ऐसा मेरा अभिमत है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥10॥

10। [सात्त्विक त्यागी के लक्षण हैं कि] सात्त्विक त्यागी—सत्त्वगुण सम्पन्न, बुद्धिमान्, संशयरहित होते हैं एवं वे अकुशल (दुःखदायक) कर्मों से द्वेष नहीं करते तथा कुशल (सुखदायक) कर्मों में आसक्त नहीं होते।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥11॥

11। [वास्तव में] देहधारी जीव सम्पूर्ण रूप से कर्म का त्याग नहीं कर सकते, किन्तु जो लोग कर्म के फल का त्याग करते हैं, वे ही त्यागी कहलाते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥12॥

12। [दूसरी ओर] जो लोग अत्यागी हैं अर्थात् कर्म के फल में आसक्त हैं, उन्हें मृत्यु के पश्चात् तीन प्रकार का कर्मफल प्राप्त होता है—अनिष्ट फल (नरक दुःख), ईष्ट फल (स्वर्ग सुख) तथा मिश्र फल (मनुष्य लोक का सुख-दुःख); किन्तु, संन्यासियों को कोई कर्मफल नहीं भोगना पड़ता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥13॥

13। [क्यों नहीं, वह बता रहा हूँ] हे महाबाहो!

कर्म को समाप्त करने के विषय में, सांख्य (वेदान्तशास्त्र) में सभी कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच कारण निर्दिष्ट हुए हैं; वे मुझसे श्रवण करो।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्॥14॥

14। [वे पाँच कारण हैं,] अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (करने वाला जीव), विभिन्न करण (मन तथा कर्ण आदि इन्द्रियाँ), अलग–अलग प्रकार की चेष्टाएँ एवं पंचम कारण 'दैव' (अन्तर्यामी की सहायता)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥15॥

15। मनुष्य शरीर, मन और वाणी के द्वारा न्याय या अन्याय जो भी कर्म करता है, ये पाँच ही उसके कारण हुआ करते हैं (अर्थात् इन पाँच कारणों के बिना कोई भी कर्म अनुष्ठित नहीं होता)।

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥16॥

16। ऐसी अवस्था में भी जो व्यक्ति केवल स्वयं **(**आत्मा**)** को ही कर्त्ता के रूप में देखता है (*)**,** वह अशुद्ध–बुद्धि वाला होने के कारण दुर्मति है— अर्थात् वह कुछ भी नहीं जानता।

(*) "अहंकार–विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते" (गीता 3/27), इस विचार के वशवर्त्ती है।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥17॥

17। [दूसरी ओर] जिसमें कर्त्तापन का अभिमान अर्थात् 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा भाव नहीं है, अतएव जिसकी बुद्धि कर्मफल में आसक्त नहीं है, वह व्यक्ति सब लोगों की हत्या करने पर भी—हत्या नहीं करता है, और उस फल में आबद्ध भी नहीं होता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥18॥

18। [उसकी व्याख्या सुनो,] मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा तीन प्रकार की है—ज्ञान, ज्ञेय (जानने योग्य) तथा परिज्ञाता (जानने वाला)। कर्म के भी तीन आधार हैं—करण (इन्द्रियाँ), क्रिया तथा कर्त्ता।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥19॥

19। सांख्य शास्त्र कहता है कि ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता [सत्त्व, रज और तम, इन] तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ये सब जिस प्रकार के हैं, यथावत् वह भी श्रवण करो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥20॥

20। एक दूसरे से अलग होने पर भी जिस ज्ञान के द्वारा सभी जीवों में एक अव्यय भाव अनुभूत होता है (अर्थात् देह आदि के अतीत एक चिन्मय आत्म-तत्त्व की उपलब्धि होती है), उस ज्ञान को सात्त्विक जानो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥21॥

21। किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा सभी जीवों में भिन्न प्रकार के अनेक भाव अलग-अलग अनुभव होते हैं, उस ज्ञान को राजसिक जानो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्॥22॥

22। और जिस ज्ञान में जीव केवल स्नान-भोजन आदि शारीरिक कार्यों को ही सम्पूर्ण मानकर (अर्थात् इससे अधिक और कुछ भी नहीं है, इस प्रकार से) आसक्त रहता है, एवं जो ज्ञान युक्ति-रहित, तत्त्वविचार-रहित और तुच्छ है, उसे तामसिक ज्ञान कहा जाता है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥23॥

23। [अब तीन प्रकार के कर्मों के विषय में सुनो,] जो कर्म नित्य है तथा जो निष्काम व्यक्ति के द्वारा अनासक्त-भाव से एवं राग-द्वेष के बिना अनुष्ठित होता है, उसे सात्त्विक कर्म कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥24॥

24। फल की कामना रखकर अहंकार-वश बहुत परिश्रम के साथ जो कर्म किया जाता है, वह राजसिक कहलाता है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥25॥

25। जो कर्म भावी बन्धन (क्लेश) देने वाला हो, धर्मादि पुण्यों का नाश करे, अपने या दूसरों को पीड़ा

पहुँचाए एवं अपने सामर्थ्य का विचार किये बिना केवल मोहवश आरम्भ किया जाय, उसे तामसिक कर्म कहा जाता है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥26॥

26। [इसके पश्चात् तीन प्रकार के कर्त्ता के संबंध में सुनो,] आसक्ति-रहित, निरहंकार, धैर्य-उत्साहशील एवं कार्य की सफलता-असफलता में निर्विकार—इस प्रकार के कर्ता को सात्त्विक कर्त्ता कहा जाता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुलुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः॥27॥

27। कर्म में आसक्त, कर्मफल-कामी, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र एवं हर्ष-शोक के अधीन कर्त्ता को राजसिक कहा जाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥28॥

28। अनुचित कार्य करने वाला, प्राकृत (विवेक-हीन), अनम्र, शठ (मायावी), दूसरों का अपमान करने वाला, आलसी, विषादयुक्त (शोकमग्न) तथा दीर्घसूत्री (अल्प समय में होने वाले कार्य को बहुत विलम्ब से संपन्न करने वाले) कर्त्ता को ही तामसिक कहा जाता है।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥29॥

29। हे धनञ्जय**!** अब गुणों के भेद से बुद्धि तथा धृति के तीन रूप अलग-अलग सम्पूर्ण रूप से कहे जा

रहे हैं, श्रवण करो।

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥30॥

30। हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, कार्य तथा अकार्य, भय तथा अभय, बंधन तथा मोक्ष आदि के भेद को समझती है, वह बुद्धि सात्त्विक है।

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥31॥

31। हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा धर्म तथा अधर्म, कार्य तथा अकार्य आदि को यथायथ रूप से नहीं जाना जा सकता, वह बुद्धि राजसी है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥32॥

32। हे पार्थ! जो बुद्धि तमोगुण के द्वारा आच्छन्न है, अतः अधर्म को धर्म समझती है एवं समस्त विषयों का विपरीत रूप से विचार करती है, वह बुद्धि तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥33॥

33। [अब तीन प्रकार की धृति (धारणा शक्ति) का विचार सुनो,] हे पार्थ! योग अर्थात् परमात्म-चिन्तन के कारण अव्यभिचारिता-गुण प्राप्त जिस धृति के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ धृत (नियमित) होती हैं, वह धृति सात्त्विकी है।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।

प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥34॥

34। हे अर्जुन! जिस धृति के द्वारा फल का इच्छुक जीव आसक्त होकर धर्म–अर्थ–काम को [प्रधान रूप से] धारण करता है, वह धृति राजसी है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता॥35॥

35। जिस धृति के द्वारा मनुष्य दुर्बुद्धि होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद, मद आदि को छोड़ नहीं पाता (अर्थात् धारण करता है), वह धृति तामसी है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति॥36॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥37॥

36–37। हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुखों के संबंध में मुझसे श्रवण करो। [प्रथम सात्त्विक सुख—] जो पहले विष के समान किन्तु परिणाम में अमृत–तुल्य है, अतः जिसके पुनः पुनः अभ्यास के कारण जीव [अन्त में] उसमें आसक्त हो जाता है एवं उसे संसार के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, उस निर्मल आत्म–बुद्धि से उत्पन्न सुख को ही सात्त्विक कहा जाता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥38॥

38। विषय तथा इन्द्रियों के संयोग क्रम से जो पहले अमृत के समान लगता है, किन्तु परिणाम में विष के समान होता है, वह सुख राजसिक कहलाता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥39॥

39। जो सुख पहले भी एवं परिणाम में भी आत्मा के स्वरूप को आवृत करने वाला है एवं जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न है, वह सुख तामसिक कहलाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥40॥

40। पृथ्वी में अथवा स्वर्ग में और फिर देवताओं में भी ऐसी कोई सत्ता (प्राणी या वस्तु) नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥41॥

41। [अब उससे उद्धार प्राप्त करने का प्रकरण आरम्भ कर रहा हूँ, सुनो,] हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कार्य उनके अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त हुए हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥42॥

42। शम (अन्तःकरण का संयम), दम (बाह्य इन्द्रियों का संयम), तपः (शास्त्रों में वर्णित शारीरिक कष्ट), शौच (पवित्रता), क्षान्ति (सहिष्णुता), आर्जव (सरलता), ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान (शास्त्रानुभव) तथा आस्तिक्य (शास्त्र के अर्थों में दृढ़ विश्वास)—ये सब ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥43॥

43। शौर्य (पराक्रम), तेजः (अजेयत्व), धैर्य, दक्षता, मृत्यु निश्चित जानकर भी युद्ध में अपलायन (पीठ न दिखाना), दानशीलता तथा लोक-नेतृत्व—ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥44॥

44। कृषि, गो रक्षा तथा वाणिज्य (व्यापार) आदि—वैश्य के स्वभाविक कर्म हैं; एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों की परिचर्या (सेवा) करना—शूद्रों का स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥45॥

45। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में निरत होने पर जीव परमेश्वर-निष्ठा रूपी संसिद्धि प्राप्त कर लेता है; अब अपने कर्म में लगे रहने से जीव किस पद्धति से वह सिद्धि प्राप्त करता है, उसे श्रवण करो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥46॥

46। जिनसे समस्त जीवों की उत्पत्ति होती है एवं जिनके द्वारा यह समग्र जगत व्याप्त है, जीव अपने कर्मों द्वारा उन परमेश्वर की अर्चन कर (अर्थात् 'इस कर्म के द्वारा परमेश्वर संतुष्ट हों', इस प्रकार उन्हें कर्मों को अर्पण करते हुए) सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥47॥

47। वर्णाश्रम के अधीन जो स्वधर्म है, वह दोषयुक्त होने पर भी—सुष्ठु रूप से अनुष्ठित अन्य धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि, स्वभाव–विहित कर्म के अनुष्ठान में कोई पाप नहीं होता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥48॥

48। हे कौन्तेय! फिर अग्नि जिस प्रकार धुएँ से आवृत रहती है, उसी प्रकार समस्त कर्म [कमोबेश] दोषों से आवृत होते हैं; अतएव स्वभाव–विहित कर्म दोषयुक्त होने पर भी उसका त्याग नहीं किया जा सकता।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥49॥

49। [स्वकर्म में लगा जीव परिणाम में किस प्रकार 'संसिद्धि' को प्राप्त करता है, क्रमशः सुनो,] सर्वत्र जड़ विषयों में अनासक्त–बुद्धि, वशीभूत–मन तथा जड़ सुखों में निस्पृह रहकर उक्त व्यक्ति 'संन्यास' अर्थात् स्वरूपतः कर्म–त्याग के द्वारा 'नैष्कर्म' (कर्मातीतत्व अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार की योग्यता)–रूपी परम सिद्धि को प्राप्त करता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥50॥

50। हे कौन्तेय! नैष्कर्म–सिद्धि प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त करता है जो कि ज्ञान की परम निष्ठा (अर्थात् पराकाष्ठा) है, उसे संक्षेप में मुझसे श्रवण करो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥51॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥52॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥53॥

51–53। [नैष्कर्म–सिद्धि प्राप्त व्यक्ति] सात्त्विक बुद्धि–युक्त होकर, मन को सात्त्विक धृति के द्वारा नियमित करके, रूप–रस आदि समस्त विषयों का परित्याग करके, राग–द्वेष को दूर कर, निर्जन स्थान में अवस्थित होते हैं; वे अल्प–आहारी तथा शरीर–मन–वाणी का संयम करता हुआ, वैराग्य का आश्रय करके, नित्य भगवद् चिंता–परायण होते हैं; इस प्रकार अहंकार, बल, पाखण्ड, काम, क्रोध, परिग्रह (दान आदि–ग्रहण) को त्यागकर, ममता–रहित तथा शांत (निर्गुण) व्यक्ति ब्रह्म–अनुभव में समर्थ होते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥54॥

54। [अब ज्ञान की जो पराकाष्ठा है, वह बता रहा हूँ,] ब्रह्म में अवस्थित व्यक्ति—प्रसन्न–आत्मा हैं, इसलिए वे किसी विषय में कोई शोक या आकांक्षा नहीं करते हैं। बाह्य अनुसन्धान नहीं होने के कारण उनका सभी प्राणियों में समभाव होता है; इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मेरे प्रति परा (केवला) भक्ति को प्राप्त कर लेता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥55॥

55। भक्ति के द्वारा ही वे मुझे, मेरे स्वरूप को

तथा मेरे स्वभाव को तत्त्वतः जान सकते हैं; इस प्रकार मेरे तत्त्व को जानकर वे [नित्य परिकर, लीला तथा धाम–विशिष्ट] मुझमें अर्थात् मेरी नित्यलीला में प्रवेश करते हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥56॥

56। मेरा अनन्य भक्त सर्वदा समस्त कर्म करने पर भी मेरी कृपा से नित्य, अव्यय पद (वैकुण्ठ–धाम) प्राप्त करता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥57॥

57। [ऐसी अवस्था में तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि,] तुम शुद्ध–भक्तिपर बुद्धियोग का आश्रय लेकर सर्वदा मुझमें चित्त लगाओ एवं उस चित्त के द्वारा तुम अपने समस्त कर्मों को मुझमें समर्पण करके मेरे परायण हो जाओ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥58॥

58। मुझमें चित्त समर्पित होने पर तुम मेरी कृपा से समस्त बाधा–विघ्नों को पार कर जाओगे; और यदि तुम अहंकारवश मेरे उपदेशों को नहीं सुनोगे, तो संसार–रूप विनाश को प्राप्त होओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥59॥

59। [और फिर] अहंकार का आश्रय कर तुम यह जो सोच रहे हो कि 'युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारा यह संकल्प मिथ्या ही सिद्ध होगा; क्योंकि, तुम्हारा स्वभाव तुम्हें

युद्ध में नियुक्त करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥60॥

60। हे कौन्तेय! मोहवश अभी तुम जिस कर्म को नहीं करना चाहते हो, स्वभाव-विहित अपनी प्रवृति के द्वारा चालित होकर तुम वह कर्म विवश होकर भी करोगे।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥61॥

61। [कारण यह है] हे अर्जुन! ईश्वर सभी जीवों के हृदय में अवस्थित हैं; वे माया द्वारा कर्मचक्र-रूपी यंत्र पर आरूढ़ सभी जीवों को कर्मानुसार भ्रमण कराते रहते हैं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥62॥

62। [अतएव] हे भारत! तुम सभी प्रकार से उन ईश्वर की ही शरण ग्रहण करो; उनकी कृपा से तुम परम शांति एवं नित्यधाम प्राप्त करोगे।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥63॥

63। यह गुह्य से भी गुह्यतर (परम गोपनीय) ज्ञान मैंने तुम्हें कहा है; तुम इसपर अशेष रूप से विचार कर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥64॥

64। पुनः, मेरा सर्वश्रेष्ठ उपदेश, जो सर्वगुह्यतम (सर्वाधिक गोपनीय) है, उसे श्रवण करो; तुम मेरे अत्यंत प्रिय हो, अतएव तुम्हारे हित के लिए कह रहा हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥65॥

65। तुम अपना चित्त मुझे अर्पण करो, मेरी कथा श्रवण-कीर्तन आदि भक्तियाजन-शील भक्त बनो, मेरी पूजा करने वाले होओ, [अथवा केवल] मुझे नमस्कार करो—ऐसा करने पर तुम मुझे प्राप्त करोगे। मैं तुम्हारे निकट यह सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥66॥

66। [वर्णाश्रम सम्बन्धीय] समस्त धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो; शोक मत करना—मैं तुम्हें उन-उन धर्मों का परित्याग करने के फलस्वरूप उत्पन्न सभी पापों से मुक्त कर दूँगा।

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥67॥

67। [अब इस गीताशास्त्र का कौन अधिकारी है और कौन अनाधिकारी, उसे सुनो,] इस गीताशास्त्र का उपदेश किसी भी धर्मानुष्ठानहीन (असंयमित) तथा भक्तिहीन व्यक्ति को मत देना, और फिर श्रवण-विमुख तथा मुझसे द्वेष करने वाले व्यक्ति को भी नहीं बताना।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥68॥

68। [दूसरी ओर] जो मेरे भक्तों को इस परम गोपनीय गीता कथा का उपदेश करेंगे, वे मेरे प्रति परा भक्ति प्राप्त कर मुझे ही प्राप्त होंगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥69॥

69। इस मनुष्य लोक में उस गीताशास्त्र की व्याख्या करने वाले की अपेक्षा और कोई मेरा प्रियकार्य करने वाला नहीं है और होगा भी नहीं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥70॥

70। [अब गीता–अध्ययन तथा श्रवण करने का फल बता रहा हूँ,] जो हमारे इस परम धर्मयुक्त कथोपकथन का अध्ययन करते हैं, उनके उस अध्ययन को मैं ज्ञान यज्ञ के द्वारा अपनी अर्चन के रूप में स्वीकार कर लेता हूँ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥71॥

71। [भक्त नहीं, किन्तु] जो व्यक्ति श्रद्धावान् तथा द्वेषरहित होकर गीता पठन का श्रवण करते हैं, वे भी पापमुक्त होकर पुण्यकर्मा मनुष्यों को प्राप्त होने वाले शुभ लोकों को प्राप्त करते हैं।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥72॥

72। हे पार्थ! क्या तुमने एकाग्रचित्त से इस गीता को श्रवण किया है? हे धनञ्जय! क्या इसे सुनकर तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया है?

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥73॥

73। अर्जुन ने कहा, हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है; 'मैं आपका नित्य दास हूँ', मुझे यह पुनः स्मरण हो आया है एवं आपके नित्यदासत्व में अवस्थित हो गया हूँ; मेरे सभी संशय दूर हो गये हैं, अब आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा।

सञ्जय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥74॥

74। संजय ने कहा,—इस प्रकार मैंने महात्मा श्रीवासुदेव और पार्थ के इस अद्भुत एवं रोमांचकारी संलाप (संवाद) को श्रवण किया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥75॥

75। [अहो!] श्रीव्यासदेव की कृपा से ही मैंने स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण के अपने श्रीमुख से वर्णित इस परम गुह्य योग को श्रवण किया।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥76॥

76। राजन! श्रीकेशव और अर्जुन के इस अद्भुत

पवित्र संलाप को जितनी बार भी स्मरण कर रहा हूँ, उतनी बार ही रोमांचित हो रहा हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥77॥

77। पुनः हे राजन्! श्रीहरि का वह अति अद्भुत विश्वरूप, अहो! उसका स्मरण करते-करते मुझे अतिशय विस्मय उत्पन्न हो रहा है एवं मैं बारम्बार पुलकित हो रहा हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥78॥

इति 'मोक्षसंन्यासयोगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः।

78। [राजन! और क्या कहूँ] जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन वर्तमान हैं, वहीं पर राज्यलक्ष्मी, विजय, विभूति तथा न्याय निश्चित है—यही मेरा अभिमत है।

इति अष्टादश अध्याय का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीता–माहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥1॥

1। जो व्यक्ति संयत–चित्त होकर परम पवित्र इस गीताशास्त्र का पाठ करेंगे, वे भय एवं शोक आदि से मुक्त होकर श्रीविष्णु के पादपद्म को प्राप्त करेंगे।

गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥2॥

2। गीताशास्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति तथा प्राणायामपरक व्यक्ति के पिछले जन्मों में किये कोई पाप नहीं रहते हैं।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥3॥

3। जीवों के शारीरिक मल का निर्मोचन प्रतिदिन जल में स्नान से होता है। किन्तु गीता रूपी जल में एकबार मात्र स्नान करने से समग्र संसार–मल नष्ट हो जाता है।

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता॥4॥

4। अन्य सब शास्त्रों का पाठ करने की क्या आवश्यकता है, गीता ही सर्वदा सुष्ठु रूप से कीर्तनीय है,—जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुखपद्म से प्रकाशित हुई है।

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।

गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥5॥

5। महाभारत–ग्रंथ का अमृत–सार तथा श्रीविष्णु के श्रीमुखपद्म से निःसृत गीता–गंगा का जल पान करने से पुनः जन्म नहीं होता है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥6॥

6। समस्त उपनिषद्गण हैं—गाभी (गाय) समान, उनके दोहनकर्त्ता हैं— व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण, उक्त गाभी का बछड़ा है—अर्जुन, गाभी से निःसृत दुग्ध महान् गीतामृत एवं आस्वादक हैं—सुधी मानवगण।

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत–
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥7॥

7। शास्त्र एक ही है—श्रीमद्भगवद्गीता, देवता एक ही हैं—श्रीकृष्ण, मंत्र एक ही है—उनके सभी श्रीनाम एवं कर्म भी एक ही है—उन देवता की सेवा।

—समाप्त—

कलियुग का महामन्त्र

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥